123

भारत का विधि आयोग

नगरीय मुकदमेबाजी

न्यायनिर्णयन के विकल्प के रूप में मध्यस्थता

पर

एक सौ उनतीसवीं रिपोर्ट

1988

विधि आयोग,
भारत सरकार,
शास्त्री भवन,
नई दिल्ली।

डी०ए०देसाई

अध्यक्ष।

अगस्त 8, 1988

अ०शा० सं० 44(1)/86-वि०आ०,भाग 1

श्री बी शंकरानंद,
विधि और न्याय मंत्री,
भारत सरकार,
शास्त्री भवन,
नई दिल्ली।

प्रिय श्री शंकरानंद,

अब तक आपको ज्ञात हो गया होगा कि न्यायिक सुधारों के अध्ययन और सिफारिश करने का कार्य भारत सरकार द्वारा 1 फरवरी, 1986 को वर्तमान विधि आयोग को इसे प्राथमिकता देने के अनुरोध के साथ सौंपा गया। तदनुसार विधि आयोग की कार्य सूची पुनः तैयार की गई और न्यायिक सुधार आयोग के फायदे के लिए तैयार किए गए प्रत्येक निर्देश निबंधन का अध्ययन किया गया और प्रत्येक के संबंध में रिपोर्ट प्रस्तुत की गई। वर्तमान रिपोर्ट "नगरीय मुकदमेबाजी—न्यायनिर्णयन के विकल्प के रूप में मध्यकता" के संबंध में है। वर्तमान रिपोर्ट के प्रस्तुत किए जाने पर, जो विधि आयोग की 129वीं रिपोर्ट है, "न्याय प्रशासन प्रणाली को दृढ़ करने में विधि वृत्ति कार्य" से संबंधित निबंधन सं० 6 के सिवाय न्यायिक सुधारों को अध्ययन के संदर्भ में सभी निर्देश निबंधनों के संबंध में कार्य पूरा हो गया है। वर्तमान विधि आयोग की कार्यावधि की समाप्ति होने तक, न्यायिक सुधार आयोग के लिए पृथक् रखे गए कार्य को पूरा करने के लिए मेरी पूर्ण आशा है कि मैं उस शेष निर्देश निबंधन पर रिपोर्ट प्रस्तुत कर दूंगा।

इस रिपोर्ट का "ग्राम न्यायालय" (सं० 114) से संबंधित रिपोर्ट और "अखिल भारतीय न्यायिक सेवा" (सं०116), "उच्च न्यायालयों में बकाया मामले एक नई दृष्टि" (सं०124) और "उच्चतम न्यायालय—एक नई दृष्टि" (सं० 125) से संबंधित रिपोर्टों के साथ पढ़ा जाए। ये रिपोर्टें अंतरसंयोजित और एक दूसरी से जुड़ी हुई हैं और इसलिए उन्हें एक पैकेज के रूप में मानना होगा जिससे, जब भी उनका कार्यान्वयन किया जाएगा, यह आशा की जाती है, न्याय प्रशासन प्रणाली का पुनरुत्थान होगा जो इस समय भारी दबाव के नीचे हैं।

मैं इन रिपोर्टों के शीघ्र कार्यान्वयन की आशा करता हूं।

अभिवादन सहित,

भवदीय

(डी०ए०देसाई)

संलग्नक : एक रिपोर्ट

विषय-सूची

		पृष्ठ
अध्याय 1	प्रस्तावना	1
अध्याय 2	नगर क्षेत्रों में मुकदमेबाजी की प्रकृति	4
अध्याय 3	मकान किराए/कब्जे संबंधी मुकदमेबाजी	6
अध्याय 4	किराया अधिनियम के अधीन मुकदमेबाजी से भिन्न मुकदमेबाजी .	18
अध्याय 5	प्रकीर्ण सुझाव	19
अध्याय 6	उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण की अधिकारिता . . .	25
अध्याय 7	दांडिक अधिकारिता	27
	टिप्पण और संदर्भ	28
उपाबंध 1	महानगर क्षेत्रों से भिन्न नगर क्षेत्रों में मुकदमेबाजी में सुधारों पर कार्यपत्र	30
उपाबंध 2	कार्यशालाएं	42
उपाबंध 3	1980 से 1985 तक किराया संबंधी मुकदमेबाजी के लंबन को दर्शित करने वाले आंकड़े	51
उपाबंध 4	1980 से 1985 तक किराया संबंधी मामलों के निपटारे की औसत अवधि	52
उपाबंध 5	हिमाचल प्रदेश में अधीनस्थ न्यायालयों में विचारण पूर्व, विचारण में और विचारण पश्चात् सुलह परियोजना	53
उपाबंध 6	विभिन्न राज्यों में नगर सिविल न्यायालयों के बारे में विवरण	58

अध्याय 1

प्रस्तावना

1.1. भारतीय न्याय प्रणाली का स्वरूप सूच्याकार है जिसमें सूच्य के पाद भाग पर ताल्लुक स्तर के न्यायालय हैं जो जिला स्तर से जहां कुछ नगरों में जिला और सेशन न्यायाधीश/नगर सिविल न्यायालय हैं, ऊर्ध्वरूप से ऊपर चलते जाते हैं और उसके ऊपर राज्य स्तर पर उच्च न्यायालय है। राष्ट्रीय स्तर पर एक शिखरस्थ न्यायालय भारत का उच्चतम न्यायालय है। प्रणाली समाकलित एकक है। सूच्य की हर परत पर सडाहत हो गई है। इससे भारत सरकार यह विचार करने को उद्यत हुई कि एक न्यायिक सुधार आयोग की स्थापना की जानी चाहिए। प्रस्तावित आयोग के निर्देश निबंधन तैयार किए गए। बाद में यह कार्य विधि आयोग को सौंपा गया। इस तथ्य का मान रखते हुए कि प्रणाली अति केंद्रीयकृत है जिससे प्रणाली अकृत्यकारी हो गई, निर्देश-निबंधनों में निम्नलिखित सम्मिलित थे :—

"1. (i) विवादों का निपटारा करने के लिए न्याय पंचायतों या अन्य तंत्रों को ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित, विस्तृत और सुदृढ़ करे,

(ii) समुचित क्षेत्रों और केंद्रों में परिनिश्चित अधिकारिता और शक्तियों वाले सहभागी न्याय का तंत्र स्थापित करके,

(iii) उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में कार्य की मात्रा को कम करने के लिए न्यायिका उत्क्रम में अन्य श्रेणियां या तंत्र स्थापित करके, न्याय प्रशासन प्रणाली के विकेंद्रीयकरण की आवश्यकता ।

2. * * * * *

3. साधारणतया मामलों का शीघ्र निपटारा करने, अनावश्यक मुकदमेबाजी और मामलों की सुनवाई में विलम्ब का लोप करने तथा प्रक्रियाओं और प्रक्रिया संबंधी विधियों में सुधार और विशिष्टतया मद 1 (i) और (ii) में प्रकल्पित निबंधनों के लिए उचित प्रक्रियाएं खोजने की दृष्टि से प्रक्रिया संबंधी विधियां ।"[1]

स्पष्ट रूप से जहां संपूर्ण तंत्र का, नीचे से ऊपर तक, गहन विश्लेषण करना, यदि आवश्यक हो तो उसकी पुनः संरचना करने की दृष्टि से, अपेक्षित है वहां सामान्य अनुक्रम यह है कि इसे नीचे से आरंभ किया जाए। तदनुसार विधि आयोग ने अपना यह समाधान हो जाने पर कि इस प्रचलन में प्रणाली, ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले विवादों के निपटारे के लिए अनुपयुक्त है, ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले विवादों के निपटारे के लिए एक नई प्रणाली ग्राम न्यायालय—की खोज की। वर्तमान प्रणाली के विपरीत, इसे एक भिन्न प्रणाली होना था जो स्वरूप में सहभागी हो जहां न्याय प्रशासन में लोगों की सीधी सहभागिता इस प्रणाली को सम्मान और विश्वसनीयता देने के लिए सुनिश्चित की जा सके। इस समय न्याय प्रणाली और लोगों के बीच, जिनके लिए यह बनाई गई थी, इतनी बड़ी दरार है कि कुछ समय से इस प्रणाली की विश्वसनीयता बहुत अधिक मात्रा तक कम हो गई है। सहभागी प्रणाली जहां लोग न्याय प्रशासन में स्वयं सहभागी हों विश्वसनीयता को पुनःस्थापित करेगी, सम्मान सुनिश्चित करेगी और विवादों के निपटारे में अनौपचारिकता का स्वरूप प्रदान करेगी।

1.2. दूसरी परत जो ऊर्ध्वाकार रूप से ऊपर उठती है वह जिला स्तर पर है जहां आरंभिक अधिकारिता वाला मुख्य न्यायालय जिला न्यायालय है। इस स्तर पर सिविल और दांडिक न्याय की दो प्रणालियां इस प्रकार विलीन हो जाती हैं कि जिला न्यायालय को "जिला और सेशन न्यायालय" कहा जाता है और उसके पीठासीन न्यायाधीश को "जिला और सेशन न्यायाधीश" पदाभिहित किया जाता है। संविधान ने जिला न्यायालयों और उसके अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण उच्च न्यायालय[2] में निहित किया, किन्तु जिला न्यायाधीश तक, जिसमें वह भी सम्मिलित है, सेवा राज्य की न्यायिक सेवा का भाग थी। राज्य सूची की संशोधनपूर्व प्रविष्टि 3 को दृष्टि में रखते हुए, जो इस प्रकार थी—"न्याय प्रशासन; उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों से भिन्न सभी न्यायालयों का गठन और संगठन", राज्य को उस

सेवा की बाबत विधान बनाने की शक्ति थी। प्रविष्टि 3 का ऊपर वर्णित शब्दों का लोप करके संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा संशोधन किया गया जिसमें साथ-साथ उसी भाषा में समवर्ती सूची में प्रविष्टि 11क के अंत:स्थापन के लिए उपबंध था। उसके पश्चात् भी, जिला न्यायाधीश तक जिसमें वह भी सम्मिलित है, सेवा राज्य न्यायिक सेवा का भाग थी। जब कि भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा, भारतीय विदेश सेवा, भारतीय लेखा संपरीक्षा और लेखा सेवा आदि जैसी कई अखिल भारतीय सेवाएं हैं। अखिल भारतीय न्यायिक सेवा नहीं है। संविधान का अनुच्छेद 312 जो अखिल भारतीय सेवा की स्थापना करने की शक्ति प्रदान करता है अखिल भारतीय न्यायिक सेवा स्थापित करने के लिए शक्ति प्रदान करने के लिए संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा विनिर्दिष्ट रूप से संशोधित किया गया। इसलिए विधि आयोग ने प्रथम मध्यवर्ती प्रक्रम पर विचार करते हुए अखिल भारतीय न्यायिक सेवा, जिसका नाम "भारतीय न्यायिक सेवा" होगा स्थापित करने की साध्यता की जांच की और अपनी रिपोर्ट[3] प्रस्तुत की।

1.3. उसके पश्चात् विधि आयोग ने अपना ध्यान पहले उच्च न्यायालय[4] और फिर भारत के उच्चतम न्यायालय[5] पर केंद्रित किया।

1.4. न्याय प्रशासन के एक भाग के बारे में, सिविल और दांडिक दावों अर्थात् नगर स्तर तक मुकदमेबाजी खोज करना बाकी था। इस रिपोर्ट का संबंध उसी से है।

1.5. विधि आयोग ने नगर मुकदमेबाजी के क्षेत्रों को विनिर्दिष्ट करते हुए, जहां सुधार में न केवल विलम्ब हुआ है बल्कि उसकी अतिआवश्यकता है एक व्यापक कार्य पत्र जारी किया गया। कार्यपत्र में विधि आयोग ने, मुकदमेबाजी में अतिवृद्धि के कारण नगर क्षेत्रों में मामलों की सूचियों में भी वृद्धि की ओर संकेत किया जिसके परिणामस्वरूप विवादों के निपटारे में विलम्ब होता है जिससे कुछ अवांछनीय बातें उत्पन्न हो जाती हैं और प्रणाली का अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो जाता है। नगरीय मुकदमेबाजी को ग्रामीण क्षेत्रों में होने वाली मुकदमेबाजी से पृथक् करने में विधि आयोग इस तथ्य से मार्गदर्शित हुआ है कि न्याय प्रशासन की पहाड़ जैसी वर्तमान प्रणाली ने उसी विस्तृत प्रक्रिया द्वारा विवादों के निपटारे के लिए उसी प्रणाली की व्यवस्था की चाहे ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले विवाद नगरीय क्षेत्रों में विवादों की तुलना में साधारण प्रकृति के हैं। ग्रामीण क्षेत्र में उत्पन्न एकक बहुत ही साधारण विवाद में यथास्थिति, सिविल या दांडिक न्यायाधीश द्वारा उसी रीति से कार्यवाही की जाएगी जिस प्रकार अत्यंत विकसित नगर क्षेत्रों में विवाद में की जाती जिसका परिणाम यह होता है कि एक साधारण से विवाद का वर्षों तक बल्कि दशकों तक निपटारा नहीं होता है जिससे वादियों को कष्ट होता है और प्रणाली पर असहनीय भार पड़ता है और प्रणाली को बहुत खर्चीला बना देता है। यह सभी स्वीकार करते हैं कि इस लंबे मार्ग का अधिक मात्रा तक परित्याग करना अपेक्षित है। राज्य न्यायालय प्रणाली जो ब्रिटिश शासन के आने के समय से ही प्रवर्तनशील है उसे उसमें लोगों को सहभागी बनाकर उपांतरित करना अपेक्षित है। इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों में विवादों का निपटारा करने के लिए एक सहभागी प्रणाली की सिफारिश की गई है। कार्य पत्र द्वारा इस बात पर चर्चा आमंत्रित की गई कि क्या आवश्यक उपांतरणों सहित वही प्रणाली नगरीय मुकदमेबाजी में कार्यवाही करने के लिए सहायक और उपयोगी हो सकती है। कार्य पत्र में नगरीय न्यायालयों में आने वाले मुकदमों की प्रकृति, उनके निपटारे में विलम्ब के कारण और स्थिति का उपचार करने के लिए प्रायोगिक सुझाव अधिकथित किए गए हैं।

1.6. उच्च न्यायालयों, अन्य स्तरों पर न्यायाधीशों, संगठित बार और कुछ वादियों ने भी कार्य पत्र के उत्तर दिए हैं और विधि आयोग द्वारा कुछ प्रायोगिक सुझावों से या तो सहमति प्रकट की है या अपना हल दिया है। जम्मू-कश्मीर उच्च न्यायालय, आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति और कुछ न्यायाधीशों और नगर सिविल न्यायालय के कुछ न्यायाधीशों ने कार्य पत्र के विस्तृत उत्तर दिए हैं। गुजरात और मद्रास उच्च न्यायालयों और भारत के उच्चतम न्यायालय ने यह कथन किया कि कार्य पत्र में उन्हें कोई टिप्पणी नहीं करनी है।

1.7. कार्य पत्र राज्य सरकारों को भी भेजा गया था जिसमें उनसे अनुरोध किया गया था कि वे अपनी टिप्पणियां यथासंभव शीघ्र भेज दें। सिक्किम सरकार ने कार्य पत्र पर टिप्पणियां/विचार भेजने से पूर्व ग्राम न्यायालय पर विधि आयोग की रिपोर्ट की एक प्रति उसे भेजे जाने के लिए कहा। प्रति भेज दी गई किन्तु उसके पश्चात सिक्किम सरकार से कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ है। महाराष्ट्र सरकार से विस्तृत उत्तर प्राप्त

हुआ था। यह बताते हुए कि महाराष्ट्र सरकार ने "महाराष्ट्र राज्य विधिक सहायता और सलाह स्कीम, 1979" नामक एक स्कीम बनाई है आगे कथन किया है कि उसने राज्य, जिला और तालुक स्तरों पर विधिक सहायता और सलाह बोर्ड स्थापित किए हैं। ऐसे प्रत्येक विधिक सहायता बोर्ड से एक सुलह कक्ष गठित करने की अपेक्षा की गई है। विधि सहायता पाने के इच्छुक व्यक्ति को पहले बोर्ड का यह समाधान करना होगा कि वह विधिक सहायता पाने का हकदार है। एक बार पात्रता सिद्ध हो जाती है तो मामला सुलह कक्ष को निर्देशित कर दिया जाता है। सुलह कार्यवाही एक मास की अवधि के भीतर पूरी करना अपेक्षित है जिसके न हो सकने पर मामला न्यायालय को विधि के अनुसार निपटाए जाने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। उसने राज्य में सभी जिलों में मुकदमेबाजी की मात्रा पर विचार करने के पश्चात् न्यायाधीशों की संख्या में आनुपातिक वृद्धि करने और लोक न्यायालय स्थापित करने का भी सुझाव दिया है। दूसरे सुझाव स्थगनों में कमी, कुछ प्रकार के मुकदमों में उपस्थित होने के अधिवक्ता के अधिकार पर निर्बन्धन और अपने कारणों से कार्य पत्र में इस कथन से सहमत है कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 को हटाना अपेक्षित है। आंध्र प्रदेश सरकार ने कार्य पत्र का उत्तर किसी पश्चात्वर्ती तारीख को भेजने का वचन दिया किन्तु कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ। पश्चिमी बंगाल सरकार ने कार्य पत्र का विस्तृत उत्तर दिया। उसका झुकाव किराया संबंधी मुकदमों के लिए दो प्रशिक्षित न्यायाधीशों का न्यायालय स्थापित करने के पक्ष में था। इसका झुकाव सहभागी प्रणाली के पक्ष में था। त्रिपुरा सरकार सहभागीय प्रणाली के पक्ष में नहीं थी क्योंकि उसकी आशंका थी कि "न्याय करना एक तकनीकी विषय है जिसे ग्राम परंपरा और संस्कृति के नाम पर अनुभवहीन ग्रामीण लोगों के हाथ में नहीं दिया जा सकता।" दिल्ली संघ राज्यक्षेत्र के पुलिस आयुक्त ने कार्य पत्र का उत्तर देते हुए अपने सुझाव दिए जिनमें इस बात पर बल दिया गया था कि मजिस्ट्रेटों, अभियोजकों और अन्वेषक अधिकारियों की संख्या कार्यभार को देखते हुए स्थित की जानी चाहिए। उनकी राय थी कि उन अपराधों की संख्या जो दंड संहिता में अधिकथित किए गए हैं कम करने की आवश्यकता है और प्रक्रिया को पुन: विरचित किया जाना चाहिए।

1.8. विधि आयोग ने, इस विषय पर व्यापक विचार-विमर्श करने के लिए दिल्ली, उड़ीसा में पुरी, मेघालय में शिलांग और हिमाचल प्रदेश में शिमला कार्यशालाएं आयोजित कीं। कार्यशालाओं में उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्ति और न्यायाधीश, जिला और अधीनस्थ न्यायपालिका के न्यायाधीश, वकील, विधि छात्र और अन्य व्यक्ति उपस्थित हुए। कार्यशालाओं में विभिन्न हित समूहों के परस्पर कार्य संबंध से कई सुझाव आए जो सिफारिशें करने में सहायक होंगे। कार्यशालाओं ने विषय में अभिरुचि उजागर की। यह कार्यशालाओं में भाग लेने वाले व्यक्तियों के नामों से जो उपाबंध 2 में अभिकथित किए गए हैं, प्रकट होगा।

1.9. एकत्र की गई सामग्री और विधि आयोग के पास उपलब्ध जानकारी विभिन्न प्रकार की और व्यापक है तथा ठोस और प्रभावी सिफारिशें करने में सहायक होगी।

अध्याय 2

नगरीय न्यायालयों में मुकद्दमेबाजी की प्रकृति

2.1. जबकि गुण के आधार पर मुकदमेबाजी की प्रकृति में परिवर्तन हो रहा है, मात्रा के आधार पर न्यायालय में लाए गए मामलों की संख्या का ग्राफ ऊपर उठ रहा है। यह स्थिति दो कारणों से हुई है। जब देश में अपने आर्थिक विकास के लिए योजना बनाई जैसा उत्तरवर्ती पांच वर्षीय योजनाओं से प्रतिबिंबित होता है तो उद्योगीकरण की गति त्वरित हुई। आरंभिक चरणों में उद्योग नगर क्षेत्रों में स्थित थे जहां विद्युत चालक शक्ति और पानी सुगमता से उपलब्ध थे। एक औद्योगिक उपक्रम निचले स्तरों पर स्थानीय नियोजन का जनन करता है। नगर क्षेत्रों में उद्योगों की वृद्धि के साथ तथा ग्रामीण क्षेत्रों में नियोजन के अभाव से कृषि श्रमिकों के रूप को छोड़कर जो जमींनदारी उन्मूलन पर कम हो रहे हैं। नगरीकरण की प्रक्रिया त्वरित हो गई है। छोटे-मोटे काम की तलाश में लोग बड़ी संख्या में ग्रामीण क्षेत्रों से नगर क्षेत्रों में आए। उद्योग के रूप में आवासन का विकास नहीं हुआ था। बहुत लोगों की राय थी कि किराया निर्बन्धन अधिनियम उद्योग के रूप में आवासन के विकास में निरुत्साहक साबित हुए हैं। नगर क्षेत्रों में मांग की तुलना में आवास स्थान की उपलब्धता कम हो गई। गंदी बस्तियां अस्तित्व में आईं। मुम्बई जैसे शहरों में पथ निवासी एक नियमित बात हो गई है। आवास स्थान की उपलब्धता की मांग उसके प्रदाय की तुलना में इतनी अधिक थी कि किराएदारों को शोषण से बचाने के लिए प्रत्येक राज्य ने अपना किराया निबन्ध अधिनियम अधिनियमित किया। इस समय नगर न्यायालयों में अधिकतम मुकदमे नगर निवास स्थान के किराए और कब्जे से संबंधित हैं। यही एक मुख्य शीर्ष है जिसके अधीन अधिकतम मुकदमे हैं। विधि आयोग ने अपनी जांच के अनुक्रम में "किराया और कब्जा" शीर्षक के अधीन मुकदमेबाजी को दर्शित करते हुए लगभग 16 राज्यों के संबंध में कुछ आंकड़े एकत्र किए हैं। महाराष्ट्र सब से आगे है। इस निमित्त जानकारी जो उपाबंध 3 में ब्यौरेवार अधिकथित है सरसरी दृष्टिपात से दर्शित करेगी कि यदि इस शीर्ष के अधीन मुकदमेबाजी को वैज्ञानिक रूप से निपटाया जाता है तो नगर क्षेत्रों में न्यायालय प्रणाली पर भार बहुत मात्रा में कम हो जाएगा।

2.2. स्वतंत्रता से पहले जब साहुकारी एक नियंत्रित उपव्यवसाय थी न्यायालय धन संबंधी वादों से भरे रहते थे। धन संबंधी वादों में दिए गए धन की वसूली के लिए वाद या विक्रय किए गए माल की कीमत वसूल करने के लिए वाद सम्मिलित थे। जहां साहुकारी स्थानीय विधियों के अधीन नियमित कारबार है, वहां "धन संबंधी वाद" शीर्षक के अधीन मुकदमेबाजी कम हो गई है, चाहे साहुकारी विनियमन अधिनियमों की कठोरता से निकल भागने के लिए कई युक्तियां निकाली गई हैं।

2.3. अगला शीर्ष जिसके अधीन वाद फाइल किए जाते रहे हैं "बंधक पर वाद" था। बैंककारी उद्योग संभाव्यतः अकेला बंधक पर वाद आरंभकर्ता है।

2.4. अगला महत्वपूर्ण शीर्षक जिसके अधीन नगर न्यायालयों में प्रचुर मात्रा में मुकदमेबाजी है उपयुक्त रूप से "संपत्ति विषयक वाद" कहा जा सकता है। उनके अंतर्गत उत्तराधिकार, विभाजन, भरणपोषण, सुखाचार और अतिचार हैं। अंतिम प्रवर्ग में सीमा संबंधी विवाद भी हो सकते हैं।

2.5. एक और उपशीर्ष जिसके अधीन वाद फाइल किए जाते हैं "संविदा पर वाद" है। या तो वाद विनिर्दिष्ट पालन के लिए या संविदा-भंग के लिए नुकसानी के लिए या संविदा के अधीन देय रकम की वसूली के लिए होते हैं।

2.6. विरासत और विभाजन के लिए वाद न्यूनाधिक इसी स्तर तक रहे हैं किन्तु संविदा-भंग के लिए नुकसानी की वसूली के लिए या व्यादेश के लिए या विनिर्दिष्ट पालने के लिए वादों में वृद्धि हुई है।

2.7. सुखाचार संबंधी वाद बहुत ही कम हैं।

2.8. कौटुंबिक विवादों को अंतर्वलित करने वाली मुकदमेबाजी जैसे विवाह-विच्छेद, न्यायिक पृथक्करण, दांपत्य अधिकारों का पुनःस्थापन, बालकों की अभिरक्षा और निर्वाहिका में वृद्धि हुई। नगर क्षेत्रों में मुकदमेबाजी का मोटे तौर पर यही पैटर्न है।

2.9. नगर क्षेत्रों में विभिन्न न्यायालयों में बादों का लंबन लड़खड़ा गया है। 31 दिसम्बर, 1984 को सेशन न्यायालयों में 2,48,845 मामले लंबित थे। इसी प्रकार उसी तारीख को 77,41,459 मामले मजिस्ट्रेटों के न्यायालयों में लंबित थे। उसी ही तारीख को 29,22,293 मामले आरंभिक अधिकारिता वाले सिविल न्यायालयों में और 10,91,761 मामले अपील में लंबित थे। लंबन में निर्दयतापूर्ण वृद्धि का अनुमान नीचे सारणीबद्ध रूप में दी गई जानकारी से लगाया जा सकता है :—

जिला और अधीनस्थ न्यायालयों में वर्षवार स्थिति

वर्ष	संस्थिति	निपटारा	लंबन
(1) सेशन न्यायालय			
1982	231992	210971	199829
1983**	296192	273976	222045
1984**	296678	269878	248845
(2) मजिस्ट्रेटों के न्यायालय			
1982	8077950	7676075	6749813
1983**	8595527	4896129	7439211
1984**	7940978	7638730	7741459
(3) सिविल न्यायालय (आरंभिक शाखा)			
1982	2712309	2613670	2625399
1983**	2056298	1888959	2792738
1984**	2143599	2016044	2922293
(4) सिविल न्यायालय (अपील पक्ष)			
1982	232364	206736	945728
1983**	881088	778763	1048053
1984**	1030054	986347	1091760

**इनमें सिक्किम राज्य से संबंधित आंकड़े सम्मिलित नहीं है।

[स्रोत : भारत सरकार के विधि और न्याय मंत्रालय की 1987-88 के लिए रिपोर्ट, पृष्ठ 32]

अध्याय 3

मकान किराए/कब्जे संबंधी मुकद्मेबाजी

3.1. जिस समय कोई व्यक्ति अपना ध्यान नगरीय मुकदमेबाजी पर केंद्रीत करता है उसको नगर संपत्ति के किराए और कब्जे संबंधी वादों का संस्थित किया जाना दृष्टिगोचर होता है। ये युद्ध-पश्चात् घटनाएं हैं। यह लगातार बढ़ रही नगरीकरण प्रक्रिया के अपरिहार्य परिणामस्वरूप है। इसे प्रदाय से बहुत अधिक मात्रा में मांग के कठोर नियम और उसके परिणामों के कारण माना जा सकता है।

3.2. आजीविका की तलाश में अधिकतर लोग ग्रामीण क्षेत्रों से नगर क्षेत्रों में प्रवास कर गए। ग्रामीण क्षेत्रों में नियोजन की उपलब्धता इतनी कम थी कि छोटे-मोटे काम की तलाश में ग्रामीण जनसंख्या निकट शहरों में प्रवास कर गई। आवास उद्योग ने आवास स्थान के लिए बढ़ती हुई मांग के लिए पूर्ति नहीं की और न ही कर सका। गंदी बस्तियां पैदा होने के अतिरिक्त आवास स्थान की उपलब्धता पर दबाव इतना पड़ा कि जब तक अनुपलब्ध आवास स्थान की तलाश करने वालों के खर्च पर उन्नति करने के लालच को पर्याप्त विधान द्वारा विनियमित और रोका नहीं जाता, तब तक यह संभाव्यता थी कि आवास-स्थान की तलाश करने वाले व्यक्ति नगर संपत्ति के स्वामियों द्वारा शोषण के लिए उच्छन्न होंगे। ऐसी स्थिति में लगभग सभी राज्य विधान-मंडलों ने किराया निर्बन्धन अधिनियम अधिनियमित किए क्योंकि "भूमि" विषय जिसके अंतर्गत भू-स्वामी और अभिधारी का संबंध है राज्य सूची की प्रविष्टि 18 में सम्मिलित है।

3.3. विभिन्न किराया अधिनियमों पर केवल दृष्टि डालने से विभिन्न राज्य विधान-मंडलों के दृष्टि-कोण में अंतर दर्शित होगा। एक ओर इसको यह कहकर न्यायपूर्ण ठहराने का प्रयत्न किया गया कि स्थानीय अधिनियम विचित्र स्थानीय स्थितियां प्रतिबिंबित करते हैं और स्थानीय अपेक्षाओं की पूर्ति करने के लिए है और दूसरी ओर यह अनुरोध किया गया कि संरक्षण की मात्रा में स्थान-स्थान पर अंतर होना आवश्यक है जो उस क्षेत्र में आवास स्थान की उपलब्धता या कमी से संबंधित हो। महाराष्ट्र राज्य में मुम्बई या पश्चिमी बंगाल में कलकत्ता जैसे शहर में किराएदार की तुलना में तमिलनाडु में मद्रास शहर में किराएदार की स्थिति में कोई तात्विक या अधिक अंतर नहीं है। फिर भी भिन्न बर्ताव इतना प्रदीप्तिमान है कि समझ में नहीं आता कि तमिलनाडु विधान-मंडल उतना संरक्षण क्यों न दे जो महाराष्ट्र विधान-मंडल देना उचित समझता है ।

3.4. दृष्टांतस्वरूप, तमिलनाडु भवन (पट्टा और किराया नियंत्रण) अधिनियम, 1960 जिसका पार्श्व टिप्पण "मरम्मत या पुनर्निर्माण के लिए भू-स्वामी द्वारा कब्जे का प्रत्युद्धरण" है भू-स्वामी को नियंत्रक के आदेश द्वारा, जिसमें यह निदेश हो कि किराएदार भू-स्वामी को भवन का कब्जा विहित तारीख से पूर्व दे दे, कब्जा अभिप्राप्त करने के लिए समर्थ बनाता है यदि उसका यह समाधान हो जाता है---(क) कि भवन भू-स्वामी द्वारा मरम्मत कराने के लिए वास्तव में अपेक्षित है जो भवन खाली होने के बिना नहीं कराई जा सकती, या (ख) कि भवन भू-स्वामी द्वारा तुरन्त गिराने के प्रयोजन के लिए अपेक्षित है और भवन को गिराना, गिराए जाने वाले भवन के स्थल पर नया भवन खड़ा करने के लिए आवश्यक है। धारा 14 की उपधारा (2)(क) यह सुनिश्चित करती है कि यदि कब्जा मुरम्मत के लिए दिया जाता है तो मुरम्मत हो जाने पर किराएदार को फिर कब्जा दे दिया जाएगा। किंतु जब बेदखली इस आधार पर होती है कि भू-स्वामी को भवन का कब्जा भवन गिराने के तुरन्त प्रयोजन के लिए अपेक्षित है तो केवल आश्वासन जो भू-स्वामी द्वारा नियंत्रक को दिया जाता है यह है कि वह विहित समय के भीतर पुनर्निर्माण सारवान रूप से प्रारंभ कर देगा। यह आश्वासन नहीं दिया जाता कि भवन के पुनर्निर्माण पर किराएदार को भवन या उसका भाग दे दिया जाएगा। इस उपबंध की मुम्बई किराया, होटल और बासा दर नियंत्रण अधिनियम, 1947 की धारा 13(1)(जज) से तुलना करें, जिसमें यह उपबंध है कि भू-स्वामी परिसर को कब्जा पाने का तभी हकदार है यदि न्यायालय का समाधान हो जाता है "कि परिसर में दो से अधिक मंजिलें नहीं हैं और वह युक्तियुक्त रूप से तथा वास्तव में गिराने के तुरन्त प्रयोजन के लिए अपेक्षित है और ऐसा गिराना गिराए जाने वाले परिसर पर नया भवन खड़ा करने के लिए आवश्यक है। धारा 13 की उपधारा 3(क)

में यह और उपबंध है कि धारा 13(1)(जज) में विनिर्दिष्ट आधार पर बेदखली के लिए कोई डिक्री तब तक पारित नहीं की जाएगी जब तक कि भू-स्वामी वाद को प्रारंभ करते समय अधिकरण द्वारा उपधारा (3ख) के अधीन प्रमाणपत्र पेश नहीं करता है और अन्य बातों के साथ-साथ यह वचनबंध नहीं देता है कि नए भवन में, गिराए जाने वाले भवन की अपेक्षा वासगृहों की संख्या दुगुनी और फर्श क्षेत्र दुगुना होगा। धारा 17ख में यह और उपबंध है कि जहां बेदखली के लिए डिक्री धारा 13(1)(जज) में विनिर्दिष्ट आधार पर पारित की गई है और परिसर को गिराने और नए भवन को खड़ा करने का कार्य भू-स्वामी द्वारा प्रारंभ कर दिया गया है वहां किराएदार उस तारीख से, जिसको उसने परिसर का खाली कब्जा भू-स्वामी को दिया था, छह मास के भीतर भू-स्वामी को भवन निर्माण पूरा हो जाने पर नए भवन में, किराएदार के रूप में परिसर में उस धारा में अधिकथित शर्तों पर दखल करने के अपने आशय की सूचना दे सकेगा। धारा 17ग द्वारा भू-स्वामी पर यह बाध्यता अधिरोपित की गई है कि वह नए भवन के निर्माण के पूरा होने की तारीख किराएदार को सूचित करे। तब भू-स्वामी किराएदार को उस तारीख को सूचना देने की बाध्यता के अधीन होता है कि जिसको भवन निर्माण पूरा होगा और उस तारीख को किराएदार उस वासगृह में दखल करने का हकदार होगा जो भू-स्वामी उसे सौंपे। मुम्बई अधिनियम के अधीन यह विधि की पूर्ण स्कीम है जहां कब्जा भवन को गिराने के आधार पर मांगा जाता है। तमिलनाडु अधिनियम भी भवन के गिराए जाने के आधार पर बेदखली अनुज्ञात करता है किंतु नए भवन में किराएदार को पुनः लेने की भू-स्वामी पर आत्यंतिक रूप से कोई प्रतिरोधी बाध्यता नहीं है और न ही किराएदार को उस प्रभाव का कोई अधिकार है।

3.5. तमिलनाडु अधिनियम द्वारा इस आधार पर कब्जा चाहने वाले भू-स्वामी पर, कि भवन का कब्जा उसे तुरंत गिराने के लिए अपेक्षित है, पुनर्निर्माण करने और किराएदार को वापस लेने की कोई बाध्यता अधिरोपित नहीं की गई। इस आधार पर कब्जा चाहने के, कि भवन का कब्जा उसे तुरंत गिराने के लिए अपेक्षित है, बिना रोक अधिकार से कई मुकदमे उत्पन्न हो गए जहां हाल ही में निर्मित भवन का भी कब्जा उसके तुरंत गिराए जाने के लिए चाहा गया था। इस चाल के पीछे एक अधम प्रयोजन था। यह एक कुख्यात तथ्य है कि जब कोई भवन निर्माणाधीन है और किराए पर दिए जाने के लिए आशयित है तो आवास स्थान की तलाश में भावी किराएदार आवास स्थान पाने के आश्वासन पर अग्रिम रूप से उधार देते हैं। यदि ऐसा भवन गिराया जाता है तो ऐसे किराएदारों का नया शोषण हो सकता है। ऐसी कुख्यात पद्धति को मुम्बई किराया अधिनियम में ऐसे उपबंध द्वारा रोका गया जो इसमें इसके पूर्व वर्णित किया गया है।

3.6. तमिलनाडु अधिनियम के अधीन कई मामले उच्चतम-न्यायालय के समक्ष तमिलनाडु अधिनियम की धारा 14 के अधीन कब्जे के लिए आए। प्रत्येक मामले में भू-स्वामी द्वारा कब्जा इस आधार पर चाहा गया कि भवन तुरंत गिराए जाने के लिए अपेक्षित है। न्यायालय ने इस तथ्य को दृष्टिगोचर रखा कि अन्य किराया अधिनियमों के विपरीत तमिलनाडु अधिनियम में पुनर्निर्मित भवन में किराएदार को वापस लेने का उपबंध नहीं है। किराएदारों की अपील मंजूर करते हुए न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि : "भवन की आयु और जीर्ण दशा अन्य कई कारणों में एक सुसंगत कारण है जिन पर उस उपबंध (धारा 14ख) के अधीन भू-स्वामी की वास्तविक अपेक्षा अधिनिर्णीत करते समय विचार करना होगा और किसी ऐसे मामले में जैसा कि इस मामले में है जहां अधिनियमिति में बेदखल किए गए किराएदार को नए भवन में वापस लेने का कोई उपबंध नहीं है उस अधिनियमिति से अधिकतर बल दिया जाएगा जहां संबद्ध अधिनियमिति में ऐसा उपबंध[1] है। दूसरे शब्दों में भू-स्वामी का सद्भाव अवधारित करने के लिए नए निर्मित भवन में किराएदार को वापस लेने के लिए उपबंध का अभाव सुसंगत कारण है और कुछ मामलों में न्यायालय ने भू-स्वामी द्वारा यह वचनबंध देने का हठ किया कि किराएदार द्वारा परिसर को खाली करने और तुरंत गिराए जाने के लिए उसे भू-स्वामी के हवाले करने पर, भू-स्वामी को पुनर्निर्माण विनिर्दिष्ट समय के भीतर प्रारंभ करना चाहिए और उसे युक्तियुक्त समय में पूरा करना चाहिए तथा किराएदार को वापिस लेना चाहिए। न्यायालय अन्य राज्यों में किराया अधिनियमों में उपबंधों से प्रेरित हुआ। किराएदारों की अपीलें मंजूर की गई और मामले नियंत्रक को प्रतिप्रेषित किए गए।

3.7. यह शिकायत की जा सकती है कि इस दृष्टिकोण से राज्य विधान सभा की विधायी शक्ति का बलापहार प्रकट होता है। यह मानते हुए कि न्यायाधीशों को विधि का निर्वचन करना होता है और उन्हें विधायकों का स्थान नहीं लेना चाहिए तो भी यह सुस्थापित बात है कि वे मध्यवर्ती रूप से विधायन कर

सकते हैं और जहां उपबंध लज्जाहीन रूप से अनुचित है जैसा कि यहां है, विधायन करने के प्रलोभन को रोका नहीं जा सकता। जहां ऐसी स्थिति सामने आती है वहां न्यायाधीश अपनी विवशता प्रकट नहीं करेंगे बल्कि यह पता लगाएंगे कि यदि वे विधायक होते तो वह ऐसी स्थिति से निपटने और उसे सुलझाने के लिए क्या करते।

विद्वान न्यायाधीश लार्ड डेनिंग ने कहा :—

"जब कोई त्रुटि उत्पन्न होती है तो न्यायालय केवल अपनी विवशता ही प्रकट नहीं कर सकता और प्रारूपकार को आरोपित नहीं कर सकता। उसे संसद् के आशय का पता लगाने के रचनात्मक कार्य पर अग्रसर होना चाहिए—और तब उसे लिखित उपबंधों की, विधान-मंडल के आशय को 'बल और जीवन' प्रदान करने के लिए, पूर्ति करनी चाहिए। एक न्यायाधीश को अपने आप से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि यदि अधिनियम के निर्माताओं के समक्ष विधि में इस तरह की उलझन आ जाती तो वह उसे कैसे सुलझाते? उसे वैसे ही करना चाहिए जैसे वे करते। किसी न्यायाधीश को किसी अधिनियम के आशय को परिवर्तित नहीं करना चाहिए बल्कि उसे स्पष्ट करना चाहिए।"[2]

उच्चतम न्यायालय ने विधि के इस कथन[3] पर अपने अनुमोदन की मुहर लगा दी। मान रखते हुए भी और बिना मान रखते हुए ऐसा किया जा रहा है यह एक तथ्य है और आलोचना कुछ भी हो इसका त्याग नहीं किया जा सकता। ऐसा करने से बचने से स्पष्ट अन्याय होगा। विधि आयोग को इस तथ्य का मान है कि पूर्ववर्णित संप्रेक्षण का हाउस आफ लार्ड्स द्वारा अनुमोदन नहीं किया गया और वस्तुतः उसकी प्रतिकूल आलोचना की गई किंतु यह सुसंगत नहीं है।

3.8. एक दृष्टांत स्थिति का समर्थन करेगा। दिल्ली राजधानी नगर होते हुए, दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम में कुछ विशेष बातें हैं जो दूसरे राज्यों में किराया संबंधी विधियों में नहीं हैं। दिल्ली में बहुत बड़ी संख्या में भवन राज्य के स्वामित्व में हैं या दिल्ली विकास प्राधिकरण द्वारा निर्मित किए गए हैं। समाज के धनी अनुभाग के अतिरिक्त जिन्होंने अपने गृह निर्मित किए हैं केंद्रीय सरकार और दिल्ली प्रशासन के कर्मचारियों द्वारा बनाई गई कई सहकारी आवासन सोसाइटियां अस्तित्व में आई हैं। उनमें से अधिकतम ने अपने पद के आधार पर उपलब्ध सरकारी निवास स्थान का दखल रखते हुए अपने गृह निर्मित कर लिए हैं और उन्हें बहुत ऊंचे किराए पर उठा दिया है। जैसे कि यह पर्याप्त नहीं है दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम में एक उपबंध है जो स्वयं किराएदार के कब्जे को असुरक्षित बना देता है और साथ ही भू-स्वामी को किराए-दार को बेदखली की धमकी देकर उच्चतर किराया उद्दापित करने की युक्ति प्रदान करता है। दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम की धारा 21 में यह उपबंध है "जहां किसी भू-स्वामी को किसी संपूर्ण परिसर की या उसके किसी भाग की किसी विशेष अवधि के लिए आवश्यकता नहीं है और भू-स्वामी विहित रीति से नियंत्रक की अनुज्ञा अभिप्राप्त करने के पश्चात्, संपूर्ण परिसर या उसके किसी भाग को निवास स्थान के रूप में ऐसी अवधि के लिए जो लिखित रूप में भू-स्वामी और किराएदार के बीच करार पाए किराए पर देता है और उक्त अवधि की समाप्ति पर किराएदार ऐसे परिसर को खाली नहीं करता है तो धारा 14 या किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी नियंत्रक उसको भू-स्वामी द्वारा ऐसे समय के भीतर जो विहित किया जाए इस निमित्त किए गए आवेदन पर, किराएदार और प्रत्येक अन्य व्यक्ति को जिसके दखल में ऐसा परिसर हो, बेदखल करके परिसर या उसके किसी भाग का खाली कब्जा भू-स्वामी को दिला-एगा"। इस उपबंध के पीछे यह उद्देश्य था कि कई सरकारी अधिकारी भारत के बाहर थोड़े समय के लिए तैनात किए जा सकें और उनकी भारत से अनुपस्थिति के दौरान वे इस आश्वासन पर परिसर किराए पर देने में समर्थ हो सकें कि उनकी वापसी पर वे बाद के चक्र में पड़े बिना किराएदार को बेदखल कर सकें। जिस प्रकार यह धारा कार्यान्वित की गई है उससे कई अविधिक युक्तियां निकल आई हैं। धारा 21 के अधीन अधिकारिता का सहारा लेने वाला भू-स्वामी अग्रिम में ही कब्जे की डिक्री ले लेता है। विनिर्दिष्ट अवधि की समाप्ति पर, जो प्रायः दो वर्ष से अधिक नहीं होती है डिक्री किराएदार को सूचना दिए बिना निष्पादित की जा सकती है। धारा 21 का प्रयोग अनैतिक भू-स्वामियों द्वारा परिसरों को विनिर्दिष्ट अवधि के लिए किराए पर उठाकर इस आधार पर किया गया कि उसे अस्थायी रूप से उसकी आवश्यकता नहीं है। विनिर्दिष्ट अवधि की समाप्ति पर भू-स्वामी किराएदार से खाली करने की अपेक्षा करता किंतु किराएदारी

को उसी प्रक्रिया द्वारा बढ़ाई गई दर पर आगे विनिर्दिष्ट अवधि के लिए नवीकृत कर देता। एक मामले में धारा 21 का निर्वचन करते हुए जिसमें एक भू-स्वामिनी ने धारा 21 का सहारा लेते हुए 1968 में परिसर एक निश्चित अवधि के लिए किराए पर उठाया था और तत्पश्चात् क्रमबद्ध पट्टे पर किराए में वृद्धि करके किराएदार का कब्जा समय-समय पर चालू रखा, न्यायालय ने निम्नलिखित संप्रेषण किया :

"हम इस उपबंध (धारा 21) के विस्तार और वेग का उसकी उचित सामाजिक योजना का ठीक प्रकार से अनुमान लगा सकते हैं। यह विशेष बर्ताव के लिए एक प्रवर्ग को पृथक् करता है। जबकि कोई भी भू-स्वामी धारा 14, 19 और 20 का पालन किए बिना बेदखली नहीं कर सकता क्या उदार बेदखली नीति धारा 21 का न्यूनन करती है? स्पष्ट रूप से प्रतिकूल किंतु वास्तव में नहीं, यदि हम धारा का मुख्य कारण समझें। संभवतः संसद् किराए पर दी जाने वाली वास सुविधा को, कमी के संकट को देखते हुए, अधिकतम मात्रा म उपलब्ध कराने की इच्छुक थी। ऐसे फालतू आवास स्थान का एक स्रोत जो प्रायः संकोच करता है संभावी खाली भवन या उसका कोई भाग है जो भू-स्वामी कड़ाई से सीमित किसी अवधि के लिए किराए पर देने के लिए समर्थ है यदि उसे कुछ विश्वसनीय आश्वासन हो कि जब उसे स्वयं आवश्यकता होगी तो वह उसे वापस ले सकेगा। यदि कोई अधिकारी किसी विशिष्ट अवधि के लिए किसी अन्य विशेष नियोजन पर जा रहा है या यदि स्वामी के पास शासकीय निवास-स्थान है और वह अपना निजी परिसर किराए पर दे सकता है यदि वह विश्वस्थ है कि उसकी सेवानिवृत्ति पर वह पुनः दखल कर सकेगा, तो ऐसा आवास-स्थान पट्टा-योग्य गृहों की संख्या में वृद्धि कर सकता है———— उत्तर धारा 21 है। विधि किराए के लिए उपलब्ध परिसर के स्वामी को यह विशेष आश्वासन देकर किसी विशेष या सीमित अवधि के लिए किराए पर देने के लिए प्रेरित करती है कि उस अवधि की समाप्ति पर, निश्चित अभिकरण भू-स्वामी को खाली कब्जा दिला देगा।"[4]।

न्यायालय ने आगे यह कहा कि "यदि धारा 21 को धारा 14 की स्कीम को ध्वंस करने की मुक्त रूप से अनुज्ञा की जाती है तो किराया नियंत्रण विधि का खतरनाक प्रहार की कल्पना करना सरल है।"[5]। न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि यदि भू-स्वामी प्रत्येक विनिर्दिष्ट अवधि की समाप्ति पर बारबार किराएदारी को इस बहाने नवीकृत करता है कि आवास स्थान अल्प अवधि के लिए अस्थायी रूप से उपलब्ध है तो ऐसा प्रयोग धारा 21 का उल्लंघनकारी है और जब कब्जे के लिए वारंट भेजा जाता है तो नियंत्रक को यह जांच करने की छूट होगी कि क्या धारा 21 का सहारा गलत रूप से लिया गया है और अनुतोष देने से इन्कार कर सकेगा।

3.9. एक और दृष्टांत दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम के अधीन किराएदार को संरक्षण से प्रत्याख्यान को सामने लाएगा। धारा 14, जिसका पार्श्व टिप्पण "बेदखली के विरुद्ध किराएदार को संरक्षण" है वे आधार अधिकथित करती है जिनमें से किसी एक का सबूत भू-स्वामी को पुनः प्रवेश करने के समर्थ बना देगा। पट्टाकृत परिसर में भू-स्वामी को पुनः प्रविष्टि का अधिकार धारा 14 के उपबंधों के अधीन विनिर्दिष्ट रूप से दिया गया है। पट्टाकृत परिसर का कब्जा अभिप्राप्त करने के लिए भू-स्वामी को समर्थ बनाने वाले आधारों में एक यह है "कि आवासीय प्रयोजनों के लिए किराए पर दिया गया परिसर भू-स्वामी द्वारा स्वयं अपने लिए या उसके कुटुंब के उस पर आश्रित किसी सदस्य के लिए, यदि वह स्वयं उसका स्वामी है, या किसी ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसके फायदे के लिए परिसर धृत है और कि भू-स्वामी या ऐसे व्यक्ति के पास युक्ति युक्त रूप से कोई अन्य उपर्युक्त आवासीय स्थान नहीं है, दखल के लिए भू-स्वामी द्वारा सद्भावपूर्वक अपेक्षित है।"[6] यदि भू-स्वामी द्वारा इसमें विनिर्दिष्ट आधार पर सहारा लिया जाता है तो वह अधिनियम के अध्याय 3क में विहित प्रक्रिया के अनुसार कार्यवाही कर सकता है। वह अध्याय दिल्ली किराया नियंत्रण (संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा सम्मिलित किया गया था जो 1-12-1975 से प्रभावी हुआ। धारा 25ख में यह उपबंध है कि जहां भू-स्वामी द्वारा परिसर का कब्जा पाने के लिए आवेदन धारा 14(1)(ङ) में विनिर्दिष्ट आधारों पर किया जाता है वहां उसके संबंध में कार्यवाही उस धारा में विनिर्दिष्ट प्रक्रिया के अनुसार की जाएगी। थोड़े शब्दों में, विनिर्दिष्ट प्रक्रिया संक्षिप्त प्रकृति की है जिसकी विशेष बात यह है कि भू-स्वामी द्वारा किराए की बसूली के आवेदन के समन की तामील होने पर किराएदार परिसर से

बेदखली की प्रार्थना का विरोध तब तक नहीं करेगा जब तक वह उन आधारों का, जिन पर वह बेदखली के लिए आवेदन का विरोध करना चाहता है, कथन करते हुए शपथपत्र फाइल नहीं करता है और उस धारा में उपबंधित रीति में नियंत्रक से इजाजत अभिप्राप्त नहीं कर लेता है। नियंत्रक किराएदार का आवेदन का विरोध करने की इजाजत तभी देगा यदि किराएदार द्वारा फाइल किए गए शपथपत्र से ऐसे तथ्य प्रकट होते हैं जो धारा 14(1)(ङ) में वर्णित आधार पर परिसर का कब्जा वापिस लेने के लिए आदेश प्राप्त करने से भू-स्वामी को निर्हकित कर देते हैं। इस देश में सर्वत्र किसी अन्य किराया अधिनियम में सिवाय दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम के किसी किराएदार को कार्रवाई में प्रतिरक्षा करने के अपने आरंभिक अधिकार के होते हुए भी न्यायालय की दया पर आश्रित नहीं होना पड़ता। उच्चतम न्यायालय के स्तर पर विधि रिपोर्टों में कई आदेश प्रकाश में आए हैं जहां इजाजत देने से इंकार करने में नियंत्रक ने अशुद्ध मार्ग अपनाया किंतु उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण याचिका में भी उसे विधि-सम्मत ठहराया गया और किराएदार की प्रतिरक्षा को सुने जाने के बिना ही उसे बेदखल कर दिया गया। अपनी प्रतिरक्षा करने के लिए इजाजत को ऐसा प्रक्रम माना गया जहां नियंत्रक द्वारा लंबे आदेश इस प्रकार लिखे गए मानो साक्ष्य पेश किया गया था और उसकी सराहना करना अपेक्षित है। अंततोगत्वा उच्चतम न्यायालय को यह कहना पड़ा कि "भू-स्वामी के बिना रोक पुनः प्रवेश के अधिकार पर निर्बन्धन कड़े हों या स्थानीय स्थिति पर निर्भर करते हुए इतने कड़े न हों। किंतु किराया निर्बंधन सभी विधानों के पीछे सर्वत्र मान्यताप्राप्त आघात की अवहेलना नहीं करनी चाहिए कि किराया निर्बन्धन अधिनियमों के समर्थनकारी उपबन्धोंका इस प्रकार अर्थ नहीं लगाया जाना या निर्वचन किया जाना चाहिए जो किराएदार को प्रदत्त संरक्षण को व्यक्तिगत अपेक्षा के बल के अधीन किराएदार को बेदखल करने की भू-स्वामी इच्छा के उदार दृष्टिकोण द्वारा भ्रामक बना दें" [7]न्यायालय ने कहा कि धारा 25ख में विहित प्रक्रिया धारा 14(1)(ङ) में वर्णित आधार से भिन्न आधारों पर बेदखली के लिए आवेदन पर कार्यवाही करने के लिए विहित सामान्य प्रक्रिया की तुलना में कठोर है। और यह स्मरण करना विस्मयपूर्ण है कि इजाजत देने से इंकार करने के नियंत्रक के आदेश से किसी अपील का उपबंध नहीं किया गया है। नियंत्रक संक्षिप्त प्रक्रिया में किराएदार की किस्मत का अन्तिम मध्यस्थ था। न्यायालय ने आगे कहा कि किराएदारी की सुरक्षा को आश्वस्त करते हुए किराएदारों को संरक्षण देने की दृष्टि से भू-स्वामियों द्वारा उपभोग किए जा रहे पुनः प्रवेश के अनिर्बन्धित अधिकार पर रोक लगाने के किराया नियंत्रण कानूनों के उद्देश्य और प्रयोजन को ऐसे समाजोन्मुख हितकारी विधान की निर्वचन संबंधी प्रक्रिया को सदैव अनुप्रमाणित और मार्ग दर्शित करना चाहिए। देश के अन्य भागों में किराएदार ऐसी कठोर प्रक्रिया के लिए उच्छन्न नहीं हैं जिससे न्याय के लिए न्यायालयों के द्वार लगभग बंद कर दिए गए हों।

3.10. ये दृष्टांत, उन क्षेत्रों को छोड़कर जहां आवास स्थान की अपर्याप्तता कोई समस्या नहीं है, संपूर्ण देश को लागू समान किराया अधिनियम की आवश्यकता को व्यापक रूप से प्रदर्शित करते हैं। किराया अधिनियम का अधिनियमन राज्य मंडल की परिधि में है इसलिए विधि आयोग यह प्रयोग नहीं कर रहा है। फिर भी एक आदर्श किराया अधिनियम बनाने का समय आ गया है।

3.11. किराया अधिनियमों के अधीन अनिर्णीत मामलों की बहुत अधिक मात्रा और मामलों के निपटारे में अपरिमित विलंब से कई अवांछनीय बातें सामने आई हैं। विभिन्न राज्यों में किराया अधिनियमों के अधीन मामलों का लंबन और परिणामस्वरूप उनके निपटारे में विलंब का अनुमान इसमें दी गई (उपाबंध 4) जानकारी से लगाया जा सकता है। समयावधि, सिक्किम जैसे छोटे राज्य में 244 दिन से 5950 दिन पश्चिमी बंगाल में और 1359 दिन महाराष्ट्र के 27 जिलों में है। इस संख्या में मुम्बई लघुवाद न्यायालय में निपटारे के लिए समयावधि सम्मिलित नहीं है जहां रिपोर्ट के अनुसार मामले का अंतिम निपटारा विचारण न्यायालय द्वारा संस्थित किए जाने की तारीख से सात वर्ष की समाप्ति के पूर्व नहीं किया जाता है।

3.12. इसलिए प्रश्न जो दृष्टिगोचर होता है यह है कि क्या किराया अधिनियम के अधीन विवादों के निपटारे की वर्तमान रीति में कुछ उपांत सुधार से स्थिति में सुधार होगा या मौलिक रूप से विचलन आवश्यक है। वर्तमान रीति में सम्मुन्नति या सुधार का कोई स्थान नहीं है। इसलिए कुछ विकल्प ढूंढने होंगे।

3.13. कार्य, पत्र के उत्तरों से चार सुभिन्न दृष्टिकोण प्रकट होते हैं :

(1) उत्तर और सुझाव के लिए कार्य पत्र में स्वयं विधि आयोग द्वारा दिया गया सुझाव अर्थात् वही प्रणाली जिसकी विधि आयोग ने ग्राम न्यायालय के लिए सिफारिश की थी।

(2) सुझाया गया दूसरा विकल्प था कि एक न्यायाधीश या नियंत्रक के स्थान पर, पदाभिधान चाहे कुछ भी हो, मामले की सुनवाई करने वाले न्यायाधीशों की पीठ में कम से कम दो न्यायाधीशों को मामलों की सुनवाई करनी चाहिए और उनके विनिश्चय से विधि के प्रश्न पर जिला न्यायालय को पुनरीक्षण के सिवाय कोई अपील नहीं होगी।

(3) सुझाया गया तीसरा विकल्प था कि किराया विधियों के अधीन विवादों के निपटारे क लिए कुछ प्रकार के पड़ोस न्याय केन्द्र स्थापित किए जाएं क्योंकि इन विवादों में स्थानीय समस्याएं हैं और परिसरों के समीप लोग विवाद का निपटारा करने के लिए अधिक उपयुक्त होंगे।

(4) हिमाचल प्रदेश में पूरे वेग से कार्य कर रही सुलह न्यायालय प्रणाली।

सभी चार प्रणालियों की पृथक् रूप से परीक्षा की जाती है।

3.14. ब्रिटिश शासकों द्वारा स्थापित न्यायालय प्रणाली लघु उपांतरणों के साथ आज तक प्रवर्तनीय रही है। प्रणाली राज्य न्यायालय की है जिसका पीठासीन अधिकारी वृत्तिक रूप से प्रशिक्षित वकील होता है जो न्यायिक सेवा में प्रवेश करता है। यह प्रणाली 150 वर्ष से अधिक से चलन में है। यह प्रणाली व्यवहारिक रूप से अकृत्यकारी हो गई है। प्रणाली पूर्ण रूप से अस्त-व्यस्त हो गई है। मुम्बई में हुए सम्मेलन में विधि आयोग को यह बताया गया कि किराया अधिनियम के अधीन विवादों के निपटारे में घोर और अयुक्तियुक्त विलंब से अपराधजीवी लोगों की सेवाओं का उपयोग करने की अवांछनीय वृत्ति को कुछ भू-स्वामियों द्वारा अपनाए जाने को जन्म दिया है। ये लोग धमकी और हिंसा से किराएदार में इतना भय उत्पन्न कर देते हैं कि वह परिसर को छोड़ने के लिए विवश हो जाता है और भू-स्वामी न्यायालय प्रणाली के हस्तक्षेप के बिना कब्जा पुनः प्राप्त कर लेता है। निस्संदेह यह सेवा कीमत देकर ली जाती है और आयोग को बताया गया कि कीमत में परिक्षेत्र के अनुसार जिसमें परिसर स्थित है और परिसर के फर्श क्षेत्र के अनुसार, जिसका कब्जा चाहा जाता है, अंतर होता है। इस प्रकार की घटनाएं अत्यंत क्षुब्धकारी हैं और उन्हें प्रणाली के बिल्कुल विफल होने के सबूत में पेश किया जाता है।

3.15. प्रणाली को एक अन्य अवांछनीय बात जो सम्मेलन में विधि आयोग की जानकारी में लाई गई वह यह थी कि किराया अधिनियम के अधीन मुकदमेबाजी ने आवश्यकता पर आधारित मुकदमेबाजी का स्वरूप अपना लिया है और उसका परिणाम एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में मुकदमेबाजी में वृद्धि है विनिर्दिष्ट रूप से कहा जाए तो बलपूर्वक यह कथन किया गया कि न्यूनतम आवास-स्थान भी अर्थात् सिर के ऊपर छत भी प्रीमियम या पगड़ी कही जाने वाली भारी कीमत के बिना प्राप्त करना असंभव है और जिसको स्वीकार करना अवैध और मुम्बई किराया अधिनियम की धारा 18 के उल्लंघन में है और फिर भी यह खुले रूप से हो रहा है। बेदखली के लिए कार्रवाई में किराएदार यदि वह इमानदारी से विश्वास करता है कि भू-स्वामी की कब्जे के लिए याचिका निष्कपट है, तो भी वह बेदखली का किसी भी कीमत पर प्रतिरोध करेगा और यदि वह हार जाता है तो वह अपील पर अपील करेगा जब तक कि उसे बाहर नहीं फैंक दिया जाता, निष्पादन का केवल प्रतिरोध करेगा क्योंकि एक बार वह परिसर के बाहर हो गया तो उसे जाने के लिए कोई स्थान नहीं है। आवास-स्थान की उपलब्धता के इस अभाव के कारण मुकदमें के निपटारे में भी विलंब होता है जब किराएदार उसको उपलब्ध प्रत्येक युक्ति का उपयोग करके स्थगन मांगता है। इसलिए इस सरकारात्मक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए व्यापक चर्चा अपेक्षित नहीं है कि इस देश में सर्वत्र किराया अधिनियमों के अधीन विवादों के निपटारे के लिए वर्तमान प्रणाली एक विपत्ति और दुखद विफलता है।

3.16. पहला सुझाया गया विकल्प विधि आयोग द्वारा सिफारिश की गई प्रणाली को अपनाने का है जहां एक वृत्तिक न्यायाधीश समाज के अनुभवी न्यायाधीशों के साथ मिलकर कार्य करता है और दोनों के साथ मिलकर कार्य करने से वह एक युक्तियुक्त निष्कर्ष पर थोड़े ही समय में पहुँच जाते हैं और विवादों का निपटारा करते हैं। ऐसे विनिश्चय के विरुद्ध स्पष्ट रूप से कोई अपील नहीं होगी और विधि के प्रश्न पर जिला न्यायालय को केवल पुनरीक्षण याचिका ही अनुज्ञात होगी। यदि संपूर्ण प्रणाली और इसको क्रियाशील करने की रीति की चर्चा की जाए तो यह इस रिपोर्ट को साल लंबा ही करना होगा। जिस बात को

विधि आयोग दोहराना चाहेगा वह यह है कि कई देशों में अवृत्तिक प्रकार की न्याय प्रदाय प्रणाली स्वीकार की जा रही है। लोगों की देशी विधिमूलक संभाव्यता जिसके अंतर्गत उनकी अपनी न्याय संबंधी संवेदन शक्ति है कि विकास को स्थान दिया जाता है। यह न्याय प्रशासन में लोगों की सह-भागिता से प्राप्त किया जा सकता है। विधि आयोग अनुभवी न्यायाधीशों के एक पैनल के बनाए जाने और एक वृत्तिक न्यायाधीश तथा दो अनुभवी [10] न्यायाधीशों से मिलकर बनाए जाने वाले न्यायालय के गठन की प्रणाली की बात को और दोहराता है। ग्राम न्यायालय पर रिपोर्ट में जो सिफारिश की गई है उससे इस मामले में अंतर केवल इतना ही है कि इस निकाय को जिसका अभिनाम "नगर न्यायालय" होना चाहिए, जब तक आवश्यक न हो, स्थल पर जाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसका स्थान नगर-क्षेत्रों में होगा जहां दूरी प्रतिषेधात्मक नहीं होगी। प्रसंगवश यह कथन किया गया कि दो अनुभवी न्यायाधीशों का चयन करने में किराया अधिनियम के अधीन विनिश्चयों द्वारा प्रभावित हितबद्ध व्यक्तियों को उसमें अंतर्वलित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। यह कहा गया कि दो अनुभवी न्यायाधीश नियुक्त किए जाएं एक भू-स्वामी संगम से और एक किरादार संगम से, जो लगभग प्रत्येक ऐसे शहर में अस्तित्व में आ गई हैं जहां किराया अधिनियम प्रवृत्त है। परिपक्व विचार-विमर्श के पश्चात् विधि आयोग इस सुझाव का अनुमोदन नहीं करता है क्योंकि अनुभव से पता चला है कि न्यायालय के ऐसे गठन में पक्षपात निहित है। एक दृष्टांत दिया जाता है, कुछ दशक पूर्व भारत सरकार ने इंजीनियरी उद्योग के लिए वेतन बोर्ड की स्थापना की थी। वेतन बोर्ड के गठन की योजना इस प्रकार बनाई गई थी कि वेतन बोर्ड में सभी प्रभावित हितबद्धों का प्रतिनिधित्व हो। तदनुसार वेतन बोर्ड का अध्यक्ष न्याय-पालिका से था। दो स्वतंत्र सदस्य थे, दो सदस्य कर्मकारों का प्रतिनिधित्व करते थे और दो सदस्य नियोजकों का प्रतिनिधित्व करते थे। वेतन बोर्ड ने अधिनिर्णय देने में लगभग पांच वर्ष का समय लिया। चकित करने वाला परिणाम यह हुआ कि वेतन बोर्ड ने चार अधिनिर्णय दिए, एक अध्यक्ष द्वारा दूसरा दो स्वतंत्र सदस्यों द्वारा, तीसरा कर्मकारों के प्रतिनिधियों द्वारा और चौथा नियोजकों के प्रतिनिधियों द्वारा। यह एक शिक्षाप्रद अनुभव था। विधि आयोग को सूचना दी गई है कि ऐसा अनुभव फिर हुआ जब बहुत थोड़ा समय पहले श्रमजीवी और अश्रमजीवी पत्रकारों के लिए स्थापित वेतन बोर्ड ने अंतरिम राहत देने का अधिनिर्णय दिया। इन अनुभवों से विधि आयोग का यह विचार बन गया जिससे वह भू-स्वामियों के संगम में से एक अनुभवी न्यायाधीश और दूसरा किराएदारों के संगम से लेने के सुझाव का अननुमोदन करता है क्योंकि वे दोनों ही अपने संगम के पक्षपात की बावत बात को अपने मन से नहीं निकाल सकने की स्थिति में न हों।

3.17. दूसरी प्रणाली जिसका सुझाव दिया गया यह थी कि एक न्यायाधीश द्वारा जिसे "मुंसिफ" या "सिविल न्यायाधीश" या "किराया नियंत्रक" कहा जाता है विवादों की सुनवाई करने के स्थान पर, जैसे वर्तमान में हो रही है, दो की न्यायपीठ उसी प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए, मामलों की सुनवाई करें और उसकी राय अंतिम होनी चाहिए। विधि के प्रश्न पर पुनरीक्षण के सिवाय पीठ के विनिश्चय के विरुद्ध अपील का उपबंध नहीं होना चाहिए।

3.18. ज्ञात विधिक स्थिति के प्रत्येक कथन को विधि के प्रश्न की प्रास्थिति देने की आवश्यकता नहीं है। विधि का प्रश्न ऐसा होना चाहिए जिसके उस उच्च न्यायालय का, जिसके अधीनस्थ ऐसा नगर न्यायालय हो या उच्चतम न्यायालय का कोई आबद्धकर विनिश्चय नहीं है। पुनरीक्षण को ग्रहण करते समय विधि के प्रश्न का विनिर्दिष्ट रूप से कथन करना होगा और पुनरीक्षण याचिका केवल उसी विधि प्रश्न तक सीमित होनी चाहिए उससे अधिक नहीं।

3.19. तीसरा विकल्प जो सुझाया गया था वह था कि ऐसे पड़ोस न्याय केंद्र स्थापित किए जाने चाहिएं जहां ये विवाद सुविधाजनक रूप से निपटाए जा सकते हैं। किराया अधिनियम के अधिनियमन के पूर्व संपत्ति अंतरण अधिनियम के उपबंधों के अधीन रखते हुए भू-स्वामी को पुनःप्रवेश का अनिर्बन्धित अधिकार था। इस अधिकार का अप्ररूपिक रूप से उपयोग करने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए किराया अधिनियम पुनः प्रवेश के अधिकार पर यह उपबंध करके अवरोध अधिरोपित करता था कि कुछ निश्चयात्मक और सकारात्मक तथ्यों के सबूत पर भू-स्वामी पुनः प्रवेश कर सकता है अन्यथा किराएदार को कानूनी किराएदारी का संरक्षण होगा। ऐसा एक समर्थकारी उपबंध जो सभी किराया अधिनियमों में है वह यह है कि भू-स्वामी द्वारा स्वयं अपने उपयोग के लिए या ऐसे व्यक्ति के उपयोग के लिए, जिसके फायदे के लिए परिसर फायदाप्रद

रूप से धारित है, परिसर युक्तियुक्त रूप से अपेक्षित है। पूर्व वर्णित आधार पर कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए मुकदमें किराए अधिनियम के अधीन संभवतः अधिकतर हैं। जब कोई भू-स्वामी सद्भावपूर्वक रूप से व्यक्तिगत आवश्यकता के आधार पर कब्जा चाहता है तो विवाद-अयोग्य दो तथ्य सामने आते हैं: (1) कि किसी समय उसको परिसर की आवश्यकता नहीं थी और किराए के रूप में अतिरिक्त आय के लिए वह उसे किराए पर दे सकता था, और (2) कि उसकी व्यक्तिगत परिस्थितियां इतनी तेजी से परिवर्तित हुई हैं कि उसके व्ययनाधीन आवास-स्थान उसकी आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त है और इसलिए उसे किराएदार के कब्जे में आवास-स्थान वापस मिलना चाहिए। इन विवादों का निपटारा करने में न्यायालय का दृष्टिकोण यह अभिनिश्चित करने का है कि क्या आवश्यकता इस प्रकार यथार्थ है कि भू-स्वामी के व्ययनाधीन आवास-स्थान अपर्याप्त है या उसकी परिस्थितियां इतनी परिवर्तित हो गई हैं कि उसे किराये-दार के दखल में परिसर का कब्जा मिलना चाहिए। भू-स्वामी के कुटुम्ब की सदस्य-संख्या, परिसर किराए पर देने के बाद सदस्य संख्या में वृद्धि, भू-स्वामी के कुटुम्ब में अन्य परिवर्तन जैसे भाइयों के बीच विभाजन या पुत्रों के विवाह या अन्य कारणों से भू-स्वामी के कुटुम्ब की सदस्य-संख्या में वृद्धि सभी सुसंगत बातें हैं। भू-स्वामी की स्थिति में परिवर्तन जैसे कि परिसर उस समय किराए पर दिया गया था जब वह सेवारत था और वह सेवानिवृत्त होने वाला है और उसे परिसर की अपने स्वयं के उपयोग के लिए आवश्यकता है, भी उसी प्रकार सुसंगत है। किंतु ये सापेक्ष रूप से साधारण विषय हैं। किंतु अनुभव से पता चला है कि इस साधारण सी बात को सिद्ध करने के लिए दोनों पक्षों द्वारा कई साक्षियों की परीक्षा की जाती है। यह न्यायालय के समय का अपव्यय है। जहां परिसर है वहां पड़ोस में रहने वाले व्यक्ति को भू-स्वामी के कुटुम्ब की सदस्य-संख्या, उन परिवर्तनों का, जो कुटुम्ब में हुए हैं, विभिन्न कारणों से कुटुम्ब के सदस्यों में बेमेल का अवश्य ही ज्ञान होना चाहिए और यदि विवाद किसी पड़ोस न्याय केन्द्र में लाया जाता है तो न्यायालय द्वारा उसमें कार्यवाही करने के स्थान पर वहां उसका निपटारा आसानी से किया जा सकता है।

3.20. पड़ोस न्यायालय केंद्रों का स्थापित किया जाना हाल की ही घटना है। 1980 तक संयुक्त राज्य अमेरिका के विभिन्न भागों में एक सौ अधिक ऐसे केन्द्र स्थापित किए गए हैं। उसका प्रति-स्थानी, चाहे पूर्णतया सदृश नहीं है, सोवियत रूस के संयुक्त राज्य का कामरेड न्यायालय है। एकीकृत केन्द्रीयकृत न्याय प्रणाली स्थाई हो गई है और एक पूरक प्रणाली का सृजन करके न्याय प्रणाली के विकेन्द्री-करण के लिए मांग थी। ऐसी विकेन्द्रीकृत प्रणाली वर्तमान प्रणाली से पूर्ण रूप से भिन्न होनी थी। ऐसी विचारधारा से पड़ोस न्याय केन्द्रों को स्थापित करने की धारणा पैदा हो गई। विचलन का पता तब चलेगा जब न्यायालय का न्यायनिर्णयिक दृष्टिकोण होगा, पड़ोस न्याय केन्द्र दोनों पक्षों की सुलह कराने का प्रयत्न करेगा और यथासंभव उनकी समस्याओं के संबंध में सामान्य मति से विचार करने के लिए कहेगा। इस प्रणाली की उपयोगिता इस तथ्य में है कि यह विश्वास किया जाता है :

> "एक अच्छा पड़ोसी वही है जो दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता है किंतु जब आवश्यक हो तो सहायता करने के लिए तत्पर है। आप किसी आयोजन के लिए चीनी की एक प्याली उधार लें और उसमें उसको आमंत्रित न करें।" [12]

दूसरा विचार जो अभिव्यक्त किया गया कि :

> "वाह, मैं पड़ोस की सारी बातें जानता हूँ, किंतु वे मेरे मित्र नहीं हैं, मेरा अनुमान है कि मैं यह जानना चाहता हूँ कि वे कौन हैं, किन्तु बात इतनी ही रह जाती है"। [13]

पड़ोस केन्द्र में तीन स्थानीय निवासी हो सकते हैं और यदि कोई सेवानिवृत्त न्यायाधीश उस क्षेत्र में निवास करता है तो अधिमानतः उसे उसमें सम्मिलित करना चाहिए। स्थानीय रूप से स्थित ऐसा केन्द्र सुविधाजनक रूप से स्थित हो सकता है अधिक दूरदर्शी और मामलों के संबंध में राज्य द्वारा स्थापित न्यायालय प्रणाली से अधिक गतिशील हो सकता है। इसके साथ अप्ररूपिक, अनिर्णयिक शैली का भी फायदा है जो बहुत चित्ताकर्षक होगा। ऐसे केंद्र स्थापित करने के लिए एक विधान की आवश्यकता है। नगर क्षेत्रों में ऐसे केन्द्र स्थापित करना कठिन नहीं होगा। केन्द्रों में कार्य करने के लिए उचित रूप से सुशिक्षित स्थानीय निवासी उपलब्ध होंगे। स्थानीय परिस्थितियों, परंपराओं और स्थानीय आवश्यकताओं के बारे में उनका ज्ञान विवाद को अप्रासंगिक ढंग से निपटाने में सहायक होगा। इससे न्यायालय प्रणाली का भार बहुत सीमा तक कम हो जाएगा।

3.21. चौथा विकल्प जिसका सुझाव दिया गया था यह था कि सुलह न्यायालय, जैसे हिमाचल प्रदेश में इस समय चल रहे हैं, आरंभ किए जाएं। यह एक ऐसी प्रणाली है जो अन्य तीन प्रणालियों में से किसी एक के साथ जोड़ी जा सकती है। इसकी जांच की जाती है। विवादों का निपटारा करने के लिये उपलब्ध तंत्र हैं: न्यायालयों द्वारा, न्यायनिर्णयन, माध्यस्थम्, मध्यस्थता, बातचीत और इसके कई मिश्रण और अन्य युक्तियां जैसे लोकायुक्त या तथ्यों का पता चलाने के लिए जांच निकाय। सुलह एक ऐसा ढंग है। श्रम विधियों में सीमित सीमा के सिवाय इसका परीक्षण प्रयोग नहीं किया गया है। यह प्रणाली विचार करने योग्य है।

3.22. संसद् ने सुलह को सिविल मुकदमेबाजी में विवादों क निपटारे के लिए एक प्रणाली के रूप में आरंभ करने का विचार किया। आदेश 27 में सरकार या उनकी पदीय हैसियत में कार्य करने वाले लोक अधिकारियों द्वारा या उनके विरुद्ध वादों का उपबंध है। नियम 5ख आदेश 27 में सिविल प्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा सम्मिलित किया गया था। यह निम्न प्रकार है:

"5ख. सरकार या लोक अधिकारी के विरुद्ध वादों में निपटारा कराने में सहायता करने का लिए न्यायालय का कर्तव्य:

(1) ऐसे प्रत्येक वाद या कार्यवाही में जिसमें सरकार या अपनी पदीय हैसियत में कार्य करने वाला लोक अधिकारी पक्षकार है, न्यायालय का यह कर्तव्य होगा कि वह वाद की विषय-वस्तु के बारे में निपटारा कराने में पक्षकारों की सहायता करने के लिए हर प्रयास प्रथमतः करें जहां ऐसा करना मामले की प्रकृति और परिस्थितियों में सुसंगत हो।

(2) यदि किसी ऐसे वाद या कार्यवाही के किसी प्रक्रम में न्यायालय को यह प्रतीत होता है कि पक्षकारों के बीच निपटारा होने की युक्तियुक्त संभावना है तो न्यायालय कार्यवाही को ऐसी अवधि के लिए जो वह ठीक समझे, स्थगित कर सकेगा जिससे कि ऐसा निपटारा कराने के लिए प्रयत्न किए जा सकें।

(3) उपनियम (2) के अधीन प्रदत्त शक्ति कार्यवाहियों को स्थगित करने के लिए न्यायालय की किसी अन्य शक्ति के अतिरिक्त है।"

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 23 की उपधारा (2) और (3) और कुटुम्ब न्यायालय अधिनियम, 1984 की धारा 9 की उपधारा (1) में वही उपबंध हैं। चाहे नियम 5ख अपने लागू होने में ऐसे वाद तक सीमित है जिसमें सरकार या अपनी पदीय हैसियत में कार्य करने वाला लोक अधिकारी पक्षकार है, समय आ गया है जब कि विवादों के निपटारे के लिए उसमें उपबंधित रीति का विस्तार सिविल न्यायालयों में सभी वादों को जिनके अंतर्गत मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण के समक्ष प्रतिकर के लिए दावा है, उसके अन्तर्गत लाने के लिए, कर दिया जाए। नियम 5ख में यह उपबंध है कि किसी वाद में जिसका यह लागू होता है न्यायालय का यह कर्तव्य होगा कि वह वाद की विषय-वस्तु के बारे में निपटारा कराने में पक्षकारों की सहायता करने के लिए हर प्रयास प्रथमतः करे जहां ऐसा करना मामले की प्रकृति और परिस्थितियों में सुसंगत हो। जहां न्यायालय की यह राय है कि पक्षकारों के बीच निपटारा होने की युक्तियुक्त संभावना है तो न्यायालय कार्यवाही की ऐसी अवधि के लिए जो वह ठीक समझे, स्थगित कर सकेगा जिससे कि ऐसा निपटारा कराने के लिए प्रयत्न किए जा सकें। नियम 5ख में यह आशा की गई है कि वह न्यायालय जिसके समक्ष वाद लंबित है स्वयं विवाद में सुलह कराने का प्रयत्न करें। यह आशंका की गई कि यदि सुलह का प्रयत्न असफल हो जाता है तो पीठासीन न्यायाधीश जिसके प्रयत्न असफल हुए हैं गुणागुण के आधार पर मामले में कार्यवाही करने में उलझन में पड़ सकता है। इसका क्या समाधान है?

3.23. हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति न्यायमूर्ति पी० डी० देसाई ने यह जनाते हुए कि प्रणाली अति-विस्तृत और परिपूर्ण है प्रणाली को क्षति से बचने की दृष्टि से और साथ ही प्रणाली की अलौकिक दृष्टि की सहायता से परिणामोन्मुख बनाने की ज्वलंत इच्छा से इस उपबंध का इतना सफलतापूर्वक उपयोग किया है कि उसके द्वारा बनाई गई और सफलतापूर्वक चालित सुलह न्यायालय की स्कीम सभी न्यायालयों द्वारा स्वीकार की जा सकती है। सुलह प्रक्रिया को ऐसे वादों तक न सीमित करते हुए जिनको नियम 5 लागू होता है मुख्य न्यायमूर्ति ने इसे "मामलों की पहचान और सुलह न्यायालयों को अंतरण" शीर्षक के अधीन स्कीम में अधिकथित सभी प्रकार की मुकदमेबाजी को लागू कर दिया है। स्पष्ट रूप से कह

जाए तो सिविल प्रकृति की कोई भी मुकदमेबाजी सुलह न्यायालय की परिधि से बाहर नहीं रह गई है। उसने न केवल स्कीम को सफलतापूर्वक चलाया बल्कि ऐसे परिणाम प्राप्त किए जो बहुत उत्साहवर्धक हैं। इसका अनुमान नीचे दी गई जानकारी से लगाया जा सकता है:

क्रम सं०	अवधि	सुलह न्यायालयों द्वारा निपटाए गए मामलों की संख्या
1.	1-9-84 से 31-12-84	176
2.	1-1-85 से 31-12-85	1,890
3.	1-1-86 से 31-12-86	4,898
4.	1-1-87 से 31-12-87	8,544
		15,507

स्कीम का मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण पर विस्तार है इसलिए 1 अगस्त, 1986 से 1 दिसम्बर, 1987 तक की अवधि में सुलह न्यायालय ने अधिकरण के समक्ष लंबित 555 मामलों में से 261 दावा मामले निपटाए और समझौतों के परिणामस्वरूप 56,75,056 रुपए का प्रतिकर वितरित किया गया। परिणाम इतने उत्साहवर्धक हैं कि प्रणाली की सफलता प्रश्नगत नहीं जा सकती। और हिमाचल प्रदेश जैसे राज्य में जहां मुकदमेबाजी का संकेंद्रण इतना अधिक न हो जितना मुम्बई या कलकत्ता या मद्रास में है, मुकदमेबाजी को कम करने में इस प्रणाली का समाधान विचारयोग्य है।

3.24. स्कीम क्या है? संक्षिप्ततः स्कीम में इस प्रयोजन के लिए निश्चित सुलह न्यायालय स्थापित करने की परिकल्पना है जिसको प्रारंभिक प्रक्रम पर जब अभिवचन फाइल कर दिए गए हैं, सभी मामले अन्तरित किए जाते हैं। सुलह न्यायालय में उस न्यायाधीश से भिन्न न्यायाधीश पीठासीन होता है जिसे नगर क्षेत्रों में, जहां एक से अधिक न्यायालय हैं, वाद का विचारण करने की शक्ति हो। तालुक स्तर पर, यदि वहां एक ही न्यायालय है, उलझन का त्याग करते हुए उसी न्यायालय का पीठासीन न्यायाधीश स्कीम के अधीन मामले में सुलह कराने का प्रयत्न करता है।

3.25 सुलह न्यायालय, सौहार्द्रपूर्ण समझौते के लिए वैकल्पिक सूत्र की बाबत राय बनाने में मामले के कागज पत्रों की छानबीन करता है और आवश्यक सीमा तक परामर्शी तथा पक्षकार से तथ्यों को भी सत्यापित करता है और विवाद में विवाद्यकों के सौहार्द्रपूर्ण स्थिरीकरण के लिए दोनों पक्षकारों को स्वीकार्य उचित और न्यायपूर्ण सूत्र खोज निकालने का प्रयत्न करता है। न्यायाधीश अपनी तत्र हृदयग्राहिता से इस प्रक्रिया में सहभागी बनता है। न्यायाधीश से यह प्रत्याशा की जाती है कि विषय के बारे में अपने बोध का प्रयोग करे, विरोध की मात्रा को कम करे और पक्षकारों को उचित परिनिर्धारण स्वीकार करने के लिए प्रेरित करे, और उससे इस निमित्त अपने एकाग्र प्रयास की अपेक्षा की जाती है। सुलह न्यायालय की स्कीम के प्रवर्तन के आरंभिक प्रक्रम में वरिष्ठ न्यायिक अधिकारियों का मार्गदर्शन और सलाह मिली और अब हिमाचल प्रदेश में न्यायाधीशों का प्रशिक्षित काडर है जो स्कीम को सफलता से चला रहे हैं।

3.26. बार के ज्येष्ठ अधिकारी अन्य व्यक्तियों के साथ, जिला न्यायाधीश, अपर जिला न्यायाधीश और सुलह न्यायालय द्वारा उनको इस बात के लिए प्रभावित करने के लिए आमंत्रित किए जाते है कि परियोजना अभी परीक्षार्थ चलाई जा रही है और उसमें सफलता, प्रणाली को जो स्थिर हो चुकी थी लचीला बनाने में तात्विक रूप से सहायता करेगी। उन पर यह प्रभाव भी डालना था कि इस दृष्टिकोण से लागत बचेगी, साक्षियों को बुलाने की अपरिहार्य आवश्यकता, लंबी प्रतिपरीक्षा और समाप्त न होने वाले तर्क और उन सभी बातों से बचा जा सकेगा जो उस समय सिविल न्यायालयों में ऐसी मुकदमेबाजी में होता है। सुलह न्यायालय को विवाद्यक विरचित करने या गुणागुण के आधार पर ऐसे मामलों का विचारण करने या अनुपस्थित रहने

पर खारिज करने या उचित मामलों में एकपक्षीय रूप से कार्यवाही करने की छूट है किंतु इसमें यह सावधानी बरतनी होती है कि व्यतिक्रम के खारिजी या एकपक्षीय रूप से कार्यवाही करने की शक्तियों का प्रयोग सुलह कार्य को सुकर बनाने के लिए पक्षकारों और उनके परामर्शी की उपस्थिति उपाप्त करने के सीमित उद्देश्य से कभी-कभी किया जाता है। इस प्रकार सिविल प्रक्रिया संहिता द्वारा बिना कोई रुकावट डाले यह एक अप्ररूपिक दृष्टिकोण है और अप्ररूपिता, विरोधी पक्षकारों का दृष्टिकोण न अपनाने में और मतभेद को कम करने और अन्ततोगत्वा विवाद का निपटारा करने में पक्षकारों की सहायता करके सुलह न्यायालय के समक्ष कार्यवाही में प्रवेश कर जाती है। यदि पक्षकार समझौते के लिए सहमत हो जाते हैं तो वह सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 23, नियम 1 और 2 की अपेक्षानुसार लेखबद्ध किया जाता है। मुकदमेबाजी का यहां अन्त हो जाता है।

3.27. सुलह न्यायालय की असफलता की दशा में, वाद पूर्ण रूप ले, या जहां पक्षकारों के बीच विवाद का क्षेत्र संकीर्ण हो गया है वहां उस संकीर्ण क्षेत्र के साथ न्यायनिर्णयन के लिए उस न्यायालय को वापस भेज दिया जाता है जिसकी अधिकारिता में वाद फाइल किया गया था, स्कीम और सिविल न्यायालय में न्यायनिर्णयन प्रक्रिया में इस प्रकार अन्तर है कि इसमें अनौपचारिक वातावरण और लेने-देने का दृष्टिकोण और दोनों पक्षों के दृष्टिकोण का गुणाग्रहण और ज्येष्ठ अधिवक्ताओं की सहायता भी, जो पक्षकारों द्वारा अभिनियोजित नहीं किए जाते हैं, होती है। स्कीम सफलतापूर्वक चल रही है इसे एक प्रणाली के रूप में स्वीकार कर लिया जाना चाहिए और विधि आयोग को सूचना मिली है कि हाल ही में राजस्थान राज्य न्यायपालिका के न्यायिक अधिकारियों ने इस प्रणाली को राजस्थान राज्य में आरम्भ करने का समर्थन किया है।

3.28. स्कीम का पूर्णतया अनुमोदन करते हुए, इसे अधिक दक्ष और प्रभावी बनाने के लिए हिमाचल प्रदेश में सुलह न्यायालय द्वारा पक्षकारों के बीच विवादों में सुलह के रूप में समझौता कराने में अनुभव की जा रही कठिनाई को दूर करना आवश्यक है जब पक्षकार न्यायालय के समक्ष व्यक्तिगत रूप में उपस्थित नहीं होते। 1976 में यथासंशोधित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के उपबंधों के अधीन किसी को न्यायालय के समक्ष उपस्थित होने के लिए विवश नहीं किया जा सकता यहां यह बताया जाता है कि गुणागुण के आधार पर एकपक्षीय डिक्री पारित की जा सकती है। किंतु इससे पक्षकारों के परस्पर सामने होने से विवाद को निपटाने में सहायता नहीं मिलेगी। सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 10, नियम 4 न्यायालय को पक्षकार के विरुद्ध निर्णय सुनाने या इस निमित्त कोई अन्य उपयुक्त आदेश केवल तभी करने के लिए सशक्त करता है यदि पक्षकार का प्लीडर वाद के संबंध में किसी तात्त्विक प्रश्न का उत्तर देने में असफल रहता है। दूसरे शब्दों में किसी पक्षकार को विनिर्दिष्ट समझौते के लिए न्यायालय में किसी पक्षकार की स्वीय उपस्थिति सुनिश्चित करने की दृष्टि से सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 4 के नियम 4 के वर्तमान उपबंधों के अधीन आदिष्ट/निदेशित नहीं किया जा सकता है इसलिए अनुपस्थित रहने से दक्षतापूर्ण ढंग से कार्यवाही करने के लिए न्यायालय को सशक्त करना आवश्यक है। यह सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 4 में निम्नलिखित संशोधन करके किया जा सकता है :—

(i) निम्नलिखित को आदेश 10 के नियम 2(1) के उपखंड (ख) के पश्चात् उपखंड (ग) के रूप में जोड़ा जा सकेगा।

"पक्षकारों के बीच कोई सौहार्द्रपूर्ण समझौता कराने की दृष्टि से और पक्षकारों के बीच विवाद का सौहार्दपूर्ण समझौता कराने का प्रयत्न करने के लिए, वाद या कार्यवाही के किसी पक्षकार से, उपस्थिति की अपेक्षा कर सकेगा।"

(ii) सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 10 के नियम (4) के खंड (2) के ठीक नीचे निम्नलिखित को खंड (3) के रूप में जोड़ा जा सकेगा।

"जहां पक्षकारों के बीच विवाद का सौहार्दपूर्ण समझौता कराने के लिए स्वयं उपस्थित होने के लिए आदिष्ट कोई पक्षकार नियत दिन को विधिपूर्ण प्रतिहेतु के बिना स्वयं उपस्थित होने में असफल रहता है वहां न्यायालय उसके विरुद्ध निर्णय सुना सकेगा या वाद के संबंध में ऐसा आदेश कर सकेगा जो वह ठीक समझे।"

विधि आयोग की यह राय है कि इन परिवर्धनों के साथ स्कीम बहुत प्रभावी होगी और उन निर्बन्धनों को हटाकर जो आदेश 27 के नियम 5ख में अधिकथित वादों से भिन्न वादों में प्रक्रिया के लागू होने में पाए

जाते हैं, सभी न्यायालयों में आबद्धकर बना दी जानी चाहिए। वास्तव में स्कीम सिविल न्यायालयों के समक्ष आने वाले सिविले प्रकृति के सभी वादों को लागू होनी चाहिए।

3.29. सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 32क के नियम 3 में उसी संशोधन के कारण कानून द्वारा एक वैसा ही उपबंध सम्मिलित किया गया है जो उसमें दी गई प्रक्रिया को उपनियम (1) में अधिकथित वादों और कार्यवाहियों को लागू करता है। स्कीम यथावश्यक परिवर्तन सहित उसमें कोई और फेरफार किए बिना उनको भी लागू होनी चाहिए। स्कीम की संपूर्ण रूपरेखा इस रिपोर्ट के उपाबंध 5 के रूप में संलग्न है।

3.30. मुम्बई में आयोजित सम्मेलन कार्यशाला में नगरीय मुकदमेबाजी के संबंध में प्रभावी रूप से कार्यवाही करने के लिए कई सुझाव दिए गए। अनुभानतः मुम्बई में सभी स्तरों पर नगरीय मुकदमेबाजी का उच्चतम सकेंद्रण है। यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि उच्च न्यायालय पर दबाव कम करने के लिए एक नगर सिविल और सैशन न्यायालय वर्ष 1948 में मुम्बई में स्थापित किया गया। आरंभ में मंजूर की गई न्यायाधीश संख्या 4 थी। 30 अप्रैल 1986 को 37 न्यायाधीश नगर सिविल और सैशन न्यायालय में कार्यरत थे और 53,226 सिविल वाद तथा 4944 दांडिक मामले निपटारे के लिए लंबित थे। लंबित सिविल मामलों के अन्तर्गत 10 वर्ष से अधिक पुराने वाद हैं। इस स्थिति पर अधिक प्रकाश डालने के लिए यह वर्णित किया जा सकता है कि छह राज्यों ने नगर सिविल न्यायालय स्थापित कर लिए हैं वे हैं गुजरात, कलकत्ता, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र और आंध्रप्रदेश। नगर सिविल न्यायालय की अधिकारिता, वह क्षेत्र जिसमें न्यायालय स्थापित किया गया था न्यायाधीशों की आरंभ में मंजूर की गई संख्या, न्यायाधीशों की वर्तमान संख्या आरंभिक बकाया मामले जिनसे वह आरंभ किया गया और वर्तमान बकाया दर्शित करने वाला चार्ट उपाबंध 6 में देखें।

3.31. जब इन विक्षुब्धकारी आंकड़ों पर सम्मेलन कार्यशाला में प्रकाश डाला गया तो एक सुझाव दिया गया कि क्या पक्षकारों को माध्यस्थम् के लिए जाने के लिए न्यायालय को सशस्त किया जा सकता है। यह स्मरण रहे कि सम्मेलन कार्यशाला में भाग लेने वालों में उच्च न्यायालय के कुछ न्यायाधीश, कुछ नगर सिविल न्यायालय के न्यायाधीश और अन्य पंक्तियों से न्यायाधीश थे। सुझाव न्यायपालिका के एक सदस्य का था। जैसे कि माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 के उपबंध इस समय है इससे पूर्व किसी पक्षकार को माध्यस्थम् के लिए विवश किया जाए पक्षकारों के बीच विद्यमान माध्यस्थम् करार होना चाहिए या न्यायालय में लंबित मामले में भी पक्षकार विवाद के सभी पक्षकारों की सहमति से माध्यस्थम् का आश्रय ले सकते हैं। किसी माध्यस्थम् करार के अभाव में या सहमति के अभाव में न्यायालय पक्षकारों को माध्यस्थम् के लिए विवश करने के लिए शक्तिहीन है। न्यायाधीशों की स्पष्ट रूप से यह राय थी कि कई मामले ऐसे हैं जिनमें विवाद का निपटारा करने के लिए माध्यस्थम् न्यायालय में कार्यवाही से बेहतर ढंग है। सुझाव पर गंभीर रूप से विचार करने की आवश्यकता है और उसके लिए माध्यस्थम् अधिनियम में संशोधन आवश्यक होगा। इस रिपोर्ट में इस सुझाव पर चर्चा करना संभव नहीं है किंतु इस विषय पर एक पृथक् रिपोर्ट प्राप्त करना अच्छा होगा जो यदि समय अनुज्ञात करता है तो विधि आयोग उसका जिम्मा लेगा।

3.32. इस प्रकार हमारे पास चार प्रणालियां हैं। वह स्वरूप में एक से अनन्य नहीं कही जा सकती हैं। एक या दो एक दूसरी की पूरक कही जा सकती हैं जैसे सुलह न्यायालय प्रणाली किसी अन्य प्रणाली के साथ सम्मिलित की जा सकती है। किंतु चयन तीन प्रणालियों में से करना होगा जैसे कि क्या वर्तमान प्रणाली चालू रहनी चाहिए या दो न्यायाधीश की पीठ मामले की सुनवाई करे या सहभागी प्रणाली आरंभ की जाए परिपक्व विचार के पश्चात् विधि आयोग की यह राय है कि सुलह न्यायालय के साथ-साथ सहभागी प्रणाली आरंभ की जानी चाहिए।

अध्याय 4

किराया अधिनियम के अधीन मुकदमेबाजी से भिन्न मुकदमेबाजी

4.1. एक बार जब किराया अधिनियम के अधीन मुकदमेबाजी के लिए, जिससे नगर क्षेत्रों में न्यायालयों की सूचियां भरी पड़ी हैं यह विचार करना आवश्यक है कि क्या किराया अधिनियमों के अधीन वादों से भिन्न वाद जैसे विरासत और उत्तराधिकार, विभाजन, भरणपोषण के विवाद से उत्पन्न होने वाले वाद और सुखाचारों से संबंधित वाद वर्तमान प्रणाली द्वारा दक्ष रूप से और समय के भीतर निपटाए जा सकते हैं। कुटुंब न्यायालय अधिनियम के अंतर्गत आने वाले वादों पर यहां विचार नहीं किया जा रहा है क्योंकि उनको निपटाने के लिए पृथक् मंच स्थापित किया गया है और उससे सिविल न्यायालयों पर से दबाव और कम हो जाएगा। किराया अधिनियम के अधीन मुकदमेबाजी का दबाव इतना अधिक है कि न्यायालय किसी अन्य प्रकृति की मुकदमेबाजी के लिए समय निकालने में असमर्थ हैं। यदि किराया अधिनियम के अधीन मुकदमेबाजी एक नई सहभागी प्रणाली द्वारा ले ली जाती है तो वर्तमान न्यायालय इसमें उपरवर्णित अन्य प्रकृति के वादों के लिए पर्याप्त और यथायोग्य समय निकालने में समर्थ होंगे। विरासत, उत्तराधिकार, विभाजन, भरणपोषण के संबंध में वाद निकट नातेदारों के बीच होते हैं। विलों से उत्पन्न होने वाले वादों से मिलकर विरासत और उत्तराधिकार संबंधी विवाद साधारणतया रक्त नातेदारों के बीच होते हैं जो मृतक के निकट होते हैं और उनकी आपस में नातेदारी होती है। निस्संदेह कभी-कभी यह मुकदमेबाजी बदले की भावना से की जाती है। किंतु यहां ही सुलह न्यायालय का परीक्षण होगा। इसलिए यदि सुलह न्यायालय स्थापित करने की बाध्यता के साथ ये वाद इस समय कार्य कर रहे न्यायालयों की परिधि में रखे जाते हैं तो ऐसे विवादों का निपटारा शीघ्र प्राप्त किया जा सकता है। न्यायालय का हस्तक्षेप वादियों और मामलों में उपस्थित होने वाले वकीलों पर अपनी प्रेरक शक्ति का प्रभाव डालता है। निकट नातेदारों को उचित और न्यायपूर्ण तथा सुव्यवस्थित दृष्टिकोण अपनाने के लिए आसानी से प्रेरित किया जा सकता है। इसलिए विधि आयोग की यह राय है कि इसमें उपरवर्णित मामलों की बाबत सुलह न्यायालय प्रणाली को, उपरवर्णित प्रकृति के मामलों को अपने घेरे में लाने के लिए उसका लागू किया जाना विस्तृत करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 27 के नियम 5ख के अनुसार प्रभावी संशोधन करके अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए।

4.2. सुखाचार संबंधी अधिकारों तथा या तो संविदा के विनिर्दिष्ट पालन या संविदा भंग की शिकायत करने वाले नुकसानी के लिए वाद शेष रहते हैं।

4.3. सुखाचार के बारे में विवाद अन्तर्वलित करने वाले वाद बहुत कम होते हैं। भीड़-भाड़ वाले नगरों में विशेषकर पुराने नगर की चार दीवारी वाले क्षेत्र के अंदर प्रकाश और वायु के अतिलंघन की शिकायत करने वाले वाद न्यायालयों में पैदा हो जाते हैं। नगर योजना स्कीमों के आरंभ होने से इनकी संख्या कम हो रही है। उनके संबंध में कार्यवाही करने के लिए न्यायालय के पास पर्याप्त समय होगा और वहां कोई परिवर्तन आवश्यक नहीं है।

4.4. यदि इसमें की गई सिफारिशें पूर्ण रूप से कार्यान्वित की जाती हैं तो संविदा के विनिर्दिष्ट पालन के लिए या संविदा भंग के लिए नुकसानी के लिए वाद न्यायालयों के पास फालतू समय के भीतर निपटाए जा सकते हैं।

4.5. प्रसंगवश यह वर्णित किया जाता है कि सेवा न्यायशास्त्र के अधीन विवाद्यक उत्पन्न करने वाले वाद न्यायालयों में खड़े हो जाते थे। इस निमित्त अनन्य अधिकारिता रखने वाले केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना के साथ केन्द्रीय सरकार के सेवकों की बाबत ऐसे वादों के लिए कोई विनिर्दिष्ट उपबंध करना आवश्यक नहीं है। किंतु प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 की धारा 4(2) किसी राज्य सरकार द्वारा इस निमित्त की गई प्रार्थना पर अधिनियम के अधीन अधिकारिता, शक्तियों और प्राधिकार का प्रयोग करने के लिए राज्य के लिए प्रशासनिक अधिकरण स्थापित करने के लिए केन्द्रीय सरकार को सशक्त करती है। विधि आयोग की यह राय है कि प्रत्येक राज्य सरकार को अधिनियम के अधीन प्रशासनिक अधिकरण स्थापित करने के लिए कदम उठाने चाहिए।

अध्याय 5

प्रकीर्ण सुझाव

5.1. न्यायालयों में इस समय प्रचलित प्रक्रिया को निकट से देखने से दो बातें सामने आती हैं जो समय लेने वाली, मामलों के निपटारे में विलंब के लिए योगदायी और न्यायालयों में बकाया मामलों में वृद्धि करने वाली कही जा सकती हैं। सबसे अधिक समय मौखिक साक्ष्य लेखबद्ध करने और अंतरिम और अंतिम प्रक्रम दोनों पर तर्क सुनने में लगता है।

5.2. साक्ष्य लेखबद्ध करने में समय लगने की बाबत कार्यवाही करते हुए कुछ अपवादों के अधीन रहते हुए जो उपांत प्रकृति के हैं अब समय है जब कि न्यायालयों को यह कार्य करने की व्यर्थता और अपना मूल्यवान समय इस अन्यथा परिहार्य प्रयोग में विनिहित करने से मुक्त किया जाए।

5.3. सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 18, नियम 4 में यह उपबंध है कि हाजिर साक्षियों का साक्ष्य खुले न्यायालय में न्यायाधीश की उपस्थिति में और उसके वैयक्तिक निदेशन और अधीक्षण में मौखिक रूप से लिखा जाएगा। नियम 5 में यह उपबंध है कि जिन मामलों में अपील अनुज्ञात की जाती है उन मामलों में हर एक साक्षी का साक्ष्य, —

(क) न्यायालय की भाषा में,—

(i) न्यायाधीश द्वारा या उसकी उपस्थिति में और उसके वैयक्तिक निदेशन और अधीक्षण में लिखा जाएगा, या

(ii) न्यायाधीश के बोलने के साथ ही टाइपराइटर पर टाइप किया जाएगा, या

(ख) यदि न्यायाधीश अभिलिखित किए जाने वाले कारणों से ऐसा निदेश दे तो न्यायाधीश की उपस्थिति में न्यायालय की भाषा में यंत्र द्वारा अभिलिखित किया जाएगा।

नियम 8 में यह उपबंध है कि जहां साक्ष्य न्यायाधीश द्वारा नहीं लिखा गया है या खुले न्यायालय में उसके द्वारा बोलकर नहीं लिखाया गया है या उसकी उपस्थिति में यंत्र द्वारा अभिलिखित नहीं किया गया है वह जैसे-जैसे हर साक्षी की परीक्षा होती जाती है वैसे-वैसे हर एक साक्षी के अभिसाक्ष्य के सारांश का ज्ञापन बनाने के लिए न्यायाधीश आबद्ध होगा और ऐसा ज्ञापन न्यायाधीश द्वारा लिखा जाएगा और हस्ताक्षरित किया जाएगा और अभिलेख का भाग होगा। यह वर्णित किया जाता है कि "न्यायाधीश के बोलने के साथ ही टाइपटाइटर पर टाइप किया जाएगा" या "यंत्र द्वारा अभिलिखित किया जाएगा" पद 1976 के संशोधनकारी अधिनियम द्वारा सम्मिलित किए गए थे। इस संशोधन ने टेप रिकार्डर का उपयोग करने के लिए, जिसे पहले घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, प्राधिकृत किया। किंतु यदि टेप रिकार्डर का उपयोग भी किया जाता है तो भी कार्यवाही न्यायाधीश की उपस्थिति में होगी। इसलिए यदि टेप रिकार्डर का उपयोग भी किया जाता है तो भी न्यायाधीश का समय अन्य कार्य के लिए नहीं बचाया जाता है। परिणामस्वरूप न्यायालय के समय पर दबाव को कम नहीं किया गया है चाहे साक्ष्य अभिलिखित करने के लिए यांत्रिक युक्ति का उपयोग किया जा सकता है। किंतु साक्ष्य को यंत्र से अभिलिखित करना अनुज्ञात करना अच्छी दिशा में एक कदम है और उसका अनुमोदन वांछनीय है।

5.4. सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 75 अन्य बातों के साथ किसी साक्षी की परीक्षा करने के लिए कमीशन निकालने की शक्ति प्रदत्त करती है। इस शक्ति का कोई शर्तें लगाकर अवरोध नहीं किया गया है। किंतु सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 का आदेश 26 वे शर्तें विहित करता है जिनके अधीन् कमीशन निकाला जा सकता है। आदेश 26 के नियम 1 में यह उपबंध है कि उस न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर, जिसमें वाद लंबित है, निवास करनेवाले व्यक्ति की परीक्षा करने के लिए कमीशन

निकाला जा सकेगा यदि उस व्यक्ति को न्यायालय में हाजिर होने से सिविल प्रक्रिया संहिता में छूट मिली हो या जो बीमारी या अंग शैथिल्य के कारण हाजिर होने में असमर्थ हो। नियम 4 कमीशन निकालने के लिए धारा 75 द्वारा प्रदत्त शक्ति के प्रयोग के लिए शर्तें विहित करता है जिसमें यह उपबंध है कि परीक्षा के लिए कमीशन तभी निकाला जा सकेगा यदि —

(क) वह उसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के परे निवासी है, या

(ख) वह कोई ऐसा व्यक्ति है जो ऐसी सीमाओं को उस तारीख से पहले छोड़ने वाला है जिसको न्यायालय में परीक्षा की जाने के लिए वह अपेक्षित है, तथा

(ग) वह सरकार की सेवा का कोई व्यक्ति है जिसके बारे में न्यायालय की राय है कि वह लोक सेवा का उपाय किए बिना हाजिर नहीं हो सकता।

किसी व्यक्ति की साक्षी के रूप में परीक्षा करने के लिए कमीशन निकालने की शक्ति पर रुकावट आदेश 26 के नियम 1 और 4 में इस प्रकार विनिर्दिष्ट शर्तों द्वारा डाली गई है। ये उपबंध साक्ष्य अभिलिखित करने में न्यायाधीशों का मूल्यवान समय बचाने के विषय के संबंध में कार्यवाही करने में मुश्किल से कोई सहायता करेंगे।

5.5. धारा 75 द्वारा प्रदत्त शक्ति और आदेश 18 के उपबंधों का कुछ सीमा तक विस्तार न्यायालय में उपस्थित साक्षियों का साक्ष्य अभिलिखित करने के लिए न्यायालय को स्वप्रेरणा से आयुक्त नियुक्त करने में सहायता करने के लिए, करना होगा।

5.6. यदि साक्ष्य अभिलिखित करने के लिए किसी विशिष्ट दिन के लिए एक से अधिक वाद रखे गए हैं और सभी वादों में साक्षी उपस्थित है तो सुभिन्न संभावना यह है कि न्यायालय सभी साक्षियों का साक्ष्य अभिलिखित करने में समर्थ नहीं होगा और कुछ साक्षियों को उनके किसी कसूर के बिना वापस जाना होगा और न्यायालय पूरे दिन के लिए साक्ष्य अभिलिखित करने में लगा रहेगा। यह ऐसा कार्य है जो उपयुक्ततम रूप से आयुक्त के लिए छोड़ा जा सकता है। यदि साक्षियों का साक्ष्य अभिलिखित करने के लिए आयुक्त की नियुक्ति की जाती है तो इससे न्यायालय के बहुत से समय की बचत होगी और वादों के निपटारे पर संकेंद्रित होने के लिए न्यायालय की सहायता करेगा। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 26 में समाविष्ट विभिन्न नियमों में इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा किए गए संशोधनों के पीछे यही प्रयोजन प्रतीत होता है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा यथासंशोधित सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 26, नियम 1 कमीशन निकालने की शक्ति को विस्तृत करता है अधिरोपित शर्त यह है कि न्याय या शीघ्रता के हित में न्यायालय ऐसा करना आवश्यक समझता है। नियम 2 जिस प्रकार वह है न्यायालय को इस शक्ति का स्वप्रेरणा से विस्तार करने के लिए समर्थ बनाता है। जैसा पहले बताया गया है नियम 4 केवल उसमें विनिर्दिष्ट परिस्थितियों में कमीशन निकालने के लिए न्यायालय को अनुज्ञात करता है। जहां तक उत्तर प्रदेश का संबंध है नियम 4 हटा दिया गया है जिससे यह विवक्षित है कि संशोधित नियम 1 द्वारा अधिकतम विस्तार वाली शक्ति का प्रयोग किन्हीं शर्तों द्वारा रुकावट डाले बिना किया जा सकता है। कमीशन पर अभिलिखित किया गया कोई साक्ष्य उस पक्षकार की सहमति के बिना, जिसके विरुद्ध वह दिया गया है, साक्ष्य में उपयोग नहीं किया जा सकता है जैसा नियम 8 में उपबंधित है और रुकावट केवल नियम 8 के खंड (क) और (ख) में अधिकथित परिस्थितियों में दूर की जा सकेगी। इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा किए गए संशोधन द्वारा नियम 8 हटा दिया गया है और ऐसा करते समय आदेश 26 के नियम 7 में "नियम 8 के उपबंधों के अधीन रहते हुए" पद भी हटा दिया गया है और उसके स्थान पर "वाद में साक्ष्य" शब्द जोड़े गए हैं।[1] इन संशोधनों का संचायक प्रभाव न्यायालय को कमीशन निकालने के लिए समर्थ बनाएगा जब किसी साक्षी की परीक्षा करना न्याय और शीघ्रता के हित में समीचीन है। उचित रूप से अर्थ लगाया जाए तो न्यायालय इसमें इसके पूर्व अधिकथित स्थिति में साक्षियों की न्यायालय में परीक्षा करने के लिए कमीशन निकाल सकेगा। उपबंध को प्रभावी करने के लिए प्रत्येक न्यायालय के लिए यह लाभप्रद होगा कि वह साक्ष्य अभिलिखित करने के लिए आयुक्तों के रूप में कार्य करने के लिए रजामंद वकीलों का एक पैनल उच्च न्यायालय के पूर्वानुमोदन से बनाए। किसी नियत दिन को न्यायालय के कार्य के प्रारंभ पर पीठासीन न्यायाधीश पूछताछ करेगा कि साक्ष्य अभिलिखित करने के लिए लगाए गए सभी वादों में कितने साक्षी उपस्थित हैं और तब

उपलब्ध वकीलों को आयुक्तों के रूप में तुरंत नियुक्त करेगा और वे साक्ष्य अभिलिखित करेंगे। इससे साक्ष्य अभिलिखित करने के यांत्रिक प्रयोग में अपना समय व्यतीत करने के बिना पीठासीन न्यायाधीश के पास अन्य वादों में कार्यवाही करने के लिए समय होगा। इससे न्यायालय का प्रचुर मात्रा में समय बचेगा और मामलों का शीघ्र निपटारा होगा।

5.7 यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इसमें चर्चित परिस्थितियों में कमीशन का खर्च स्पष्ट कारणों से राज्य द्वारा सहन किया जाएगा। साधारणतया सिविल प्रक्रिया संहिता में यह आशा की गई है कि पीठासीन न्यायाधीश साक्ष्य अभिलिखित करेगा। उसको इस कर्तव्य से मुक्त किया गया है ताकि वह मामलों के निपटारे में अपना ध्यान संकेंद्रित कर सके। आयुक्त, वाद के पक्षकारों की प्रार्थना पर नहीं अपितु स्वप्रेरणा की अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए न्यायाधीश की प्रेरणा पर उसके निमित्त साक्ष्य अभिलिखित करेगा। इसलिए कमीशन का खर्च राज्य को सहन करना होगा।

5.8. लंबा, समाप्त न होने वाला और दोहराया जाने वाला तर्क वर्तमान न्याय प्रणाली की देन है। कई मास चलने वाले लंबे तर्क के दृष्टांत पहले ही जानकारी में आए हैं और उन्हें यहां दोहराना अनावश्यक है[2]। यदि वरिष्ठ न्यायालय, न्यायालय प्रक्रिया के इस अवांछनीय लक्षण को नियंत्रित या माफ नहीं कर सके तो अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों से स्थानीय वकीलों के साथ इस निमित्त प्रभावी तौर पर बर्ताव करने की आशा करना उपहास मात्र होगा और विचारण के अनुक्रम में कई प्रक्रमों पर मौखिक तर्क दिया जाता है जिसमें वह प्रक्रम भी है जब स्थगन का समावेदन किया जाता है और उसका विरोध किया जाता है। सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन प्रत्येक आवेदन का कड़ा विरोध किया जाता है। किन्तु दो अति महत्वपूर्ण प्रक्रम जहां तक परिहार्य दीर्घ समय लगता है अंतिम अनुतोष की पुष्टि करने या उसे रद्द करने और जब साक्ष्य अभिलिखित कर लिया जाता है उसके पश्चात् अंतिम कथनों के हैं। दोनों प्रक्रमों की जांच की जाए।

5.9. 1976 में यथासंशोधित सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 39 के नियम 1 और 2, उसमें अधिकथित प्रकृति का और उनमें विहित परिस्थितियों में अंतरिम अनुतोष देने के लिए न्यायालय की शक्ति प्रदत्त करते हैं। अंतरिम अनुतोष देने के पक्ष में या उसके विरुद्ध अधीनस्थ विचारण न्यायालयों में न्यायाधीशों का कई दिनों और मासों तक तर्क सुनने का दुर्भाग्यपूर्ण अनुभव है। लंबे तर्क की प्रवृत्ति है कि लंबे आदेश हों क्योंकि अनुतोष देने या इंकार करने का आदेश अपीलनीय[3] है और यदि दिए गए तर्क की चर्चा नहीं की जाती है तो अपील न्यायालय में आदेश पर गंभीर आपत्ति की जाती है। इसलिए न्यायाधीश संपूर्ण तर्क को आदेश के अंतर्गत लाने का प्रयास करता है और इस प्रक्रिया में प्रायः लंबा आदेश लिखता है। विधि आयोग के सामने हाल ही का एक मामला आया है जिसमें अहमदाबाद नगर सिविल न्यायालय ने अंतरिम अनुतोष देने से इंकार करने वाला सौ पृष्ठों से अधिक का एक आदेश लिखा। साधारणतया अनुभव यह है कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 39, नियम 1 और 2 के अधीन अनुतोष के लिए समावेदन करने वाले वादी द्वारा एक पक्षीय आदेश प्राप्त कर लिया जाता है और फिर इसकी यह अवधारित करने के लिए सुनवाई में पूर्ण विमुखता होती है कि क्या प्रारंभिक आदेश पुष्ट कर दिया जाए या प्रभावोन्मुक्त कर दिया जाए। यह विरोध कई आनुषंगिक आवेदनों का कारण हो जाता है जिनसे न्यायालय का मुख्य विवाद्यक से ध्यान विचलित हो जाता है। तर्क साधारणतया बहुत लंबे होते हैं और कई दिन तक सुने जाते हैं। इस स्थिति से स्वयं न्यायालय द्वारा कुछ दिन लगभग पन्द्रह दिन तक सीमित एकपक्षीय आदेश देकर निपटा जा सकता है और उसके पश्चात् यदि वादी या तो दूसरे पक्ष पर उसकी तामील करने में असफल रहता है या मामले में कार्यवाही करने में विमुखता दर्शित करता है तो प्रारंभिक आदेश के समय व्यतीत हो जाने से स्वतः प्रभावोन्मुक्त हो जाना चाहिए। इससे मामले में कार्यवाही करने के लिए वादी पर दबाव पड़ेगा। यदि दूसरी ओर प्रतिवादी मामले में कार्यवाही करने में विमुखता दर्शित करता है तो आदेश को आगे तर्क के बिना पुष्ट किया जा सकता है। इसके अंतरिम अनुतोष के लिए आवेदन की अल्प समय में ही निपटवाने के लिए दोनों पक्षों पर दबाव पड़ेगा। अंतिम तर्क भी बराबर समय लेने वाला है। नियम के रूप में इसे दिन प्रतिदिन नहीं सुना जाता। सुनवाई कई मास चलती है। इस बुराई का अंत लिखित कथन देने पर बल देकर किया जा सकता है और कुछ पहलुओं के संबंध में विशेष ध्यान न्यायालय में प्रत्येक पक्ष को दिए गए समय को सीमित करके दिया जा सकता है। उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय के संबंध में इस प्रभाव का एक सुझाव विधि आयोग द्वारा पहले ही दिया गया है[4]। समय आ गया है कि इस ढंग का उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालयों तक विस्तार किया जाए। उसमें वर्णित प्रभावशाली विचार के लिए विधि आयोग की

राय है कि जब न्यायालय को लिखित कथन दे दिए गए हैं तब न्यायालयों को मौखिक तर्क के लिए विनिर्दिष्ट समय तक सीमित करने के लिए सशक्त करना चाहिए। यह प्रभावी निर्णय लिखने के लिए अधीनस्थ न्यायालयों के लिए भी सहायक होगा क्योंकि लिखित कथन सुविधा से प्रयोग करने योग्य होते हैं।

5.10. विरोधी प्रणाली जो हमारे न्यायालयों में अब प्रचलित है विधिक वृत्ति के सदस्यों को प्रधानता का स्थान देती है। कोई भी व्यक्ति यह विचार नहीं कर सकता कि न्याय की तलाश में पक्षकारों की विधि विशेषज्ञों की सहायता के बिना विरोधी प्रणाली का कार्यकरण सफल हो सकता है। यह विधि वृत्ति के सदस्यों का प्रथम और मुख्य कार्य है। किन्तु एक अधिक महत्वपूर्ण और अधिक नीतिशास्त्र संबंधी कार्य जो विधिक वृत्ति के सदस्यों को करना होता है वह न्यायालय के अधिकारियों की हैसियत में है। उनका कार्य यदि अधिक नहीं तो उतना ही महत्वपूर्ण है जितना न्यायाधीश का है जो अंततोगत्वा अपनी राय देगा। इस भाव से ववतोल न्यायालय के अधिकारी कहे जाते हैं। वे सच्चाई की तलाश में, न्याय देने में और पक्षकारों को सहानुभूति प्रदान करने में सहायता करते हैं। वे यह युगल कर्तव्य करते हैं। किन्तु विधि आयोग यह महसूस करता है कि विरोधी प्रणाली में सहभागी वकीलों के कर्तव्यों के बारे में यह संकीर्ण और दोषपूर्ण विचार है। इसलिए अब समय है कि उनके कर्तव्य में तीसरा आयाम अर्थात् समाज के प्रति विधिक वृत्ति की जिम्मेदारी जोड़ दी जाए।

5.11. विधिक वृत्ति के कर्तव्य की बाबत बहुत बड़ा भ्रम है। संवैधानिक लोकतंत्र में विधिक वृत्ति के कार्य के बृहत्तर प्रश्न के अतिरिक्त संकीर्ण स्तर पर भी न्याय के वितरण में लगे न्यायालय के अधिकारियों की हैसियत में समाज के प्रति उनकी जिम्मेदारी बताई नहीं गई है। विवादों के निपटारे की प्रक्रिया में लगे हुए न्यायालय के अधिकारियों की हैसियत में उन्हें विवादों के समाधानप्रद निपटारा कराने के लिए योगदान करना होता है। विरोधी प्रणाली में विधिक वृत्ति का यह ही विशेष कर्तव्य है। इसके स्थान पर उनके कर्तव्य के प्रति भयंकर मूल्यांकन किया जाता है जब कभी-कभी "विवादों की शाश्वतता में हितबद्ध दलाल" के रूप में उनकी निंदा की जाती है। प्रमुख गुजराती दैनिक "जय हिंद" ने संपादकीय में कजिया दलाल के रूप में उनका वर्णन किया। संपादक के विरुद्ध अभियोजन किया गया जिसमें वृत्ति के सदस्यों की मानहानि की शिकायत की गई थी। संपादक की ओर से अभियोजन[5] को अभिखंडित किए जाने की प्रार्थना करते हुए गुजरात उच्च न्यायालय में याचिका फाइल की गई। न्यायालय ने विधिक वृत्ति के कर्तव्य की आधुनिक समाज और विशेष रूप से भारत में बारीकी से जांच की जिसमें यह बताया गया कि विधिक वृत्ति की प्रास्थिति की क्षति हुई है। निस्संदेह न्यायालय ने दूसरी ओर भी देखा जिसे अच्छी दिशा कहा जाता है। विधिक वृत्ति की बहुत सराहना तथा कड़ी आलोचना हुई है। वृत्ति के लिए विचार करने और आधुनिक समाज में अपना मूल्यांकन करने और समाज में अपनी जिम्मेदारी स्थापित करने के लिए अर्थोपाय करने का अब समय है। वृत्ति को न्यायालयों, मुवक्किलों के प्रति आचरण फीस प्रभारित करने की रीति और ढंग, उनके जीवन का ढंग जो सभी वृत्ति के कर्तव्य के संबंध में निर्णायक हैं, का पुनर्मूल्यांकन करना होगा। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए हमारे आंदोलन में विधिक वृत्ति का कर्तव्य गर्व से देखा जा सकता है। किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति से चाहे कोई स्वीकार न करना चाहे वृत्ति ने प्रधानता का अपना स्थान खो दिया है। दिल्ली में कई मास तक वकीलों की हड़ताल से जिसके वृत्ति को हुए लाभ हानि का लेखा-जोखा किया जाना है तथा साथ ही बधवा-गोस्वामी समिति के समक्ष रखे कथन से किसी के मन में भी यह संदेह नहीं होगा कि इससे वृत्ति को कोई कीर्ति नहीं मिली है। इसका शुद्ध परिणाम, विश्वास के साथ कहा जा सकता है, यह है कि मामलों की सुनवाई नहीं होती थी, बकाया मामले बढ़ गए और सबसे अधिक हानि न तो न्यायाधीशों, न न्यायालयों और न ही वकीलों को अपितु वादियों को हुई जिनके लिए वृत्ति अस्तित्ववान होने का दावा करती है। इस झगड़े से वृत्ति की सामाजिक लेखापरीक्षा और समाज के प्रति जिम्मेदारी के पूर्ण अभाव प्रकट होती है।

5.12. विधिक वृत्ति एक एकाधिकारिक वृत्ति है। हर एकाधिकार में अपने एकाधिकारिक स्वरूप के दुरुपयोग की अंतर्निहित संभाव्यता होती है। विधिक वृत्ति को एकाधिकारिक स्वरूप का कहा गया है क्योंकि जब तक कोई व्यक्ति क्लब का सदस्य न हो जिसमें प्रवेश वकीलों की विधिज्ञ परिषद् द्वारा नामांकन द्वारा है, कोई भी व्यक्ति किसी न्यायालय या अधिकरण के समक्ष विधि-व्यवसाय नहीं कर सकता। इस विस्तार तक, प्रवेश के लिए पात्र मानदंड सहित एक बंद क्लब है और प्रवेश देने की शक्ति वृत्ति के सदस्यों में निहित है। इस प्रकार यह एक एकाधिकारिक वृत्ति है। इसलिए किसी एकाधिकार की आवश्यक बुराईयों को रोकने के लिए यह प्राथमिक महत्व की बात है कि एकाधिकार उपभोक्ताओं के प्रति जिम्मेदार हो। संवैधानिक

लोकतंत्र के विस्तृत स्वरूप में, न्याय के उपभोक्ताओं के अर्थात् वादियों के प्रति जिम्मेदारी के अतिरिक्त स्वयं समाज द्वारा प्रदत्त एकाधिकारिक स्वरूप की वृत्ति जिम्मेदारी के अतिरिक्त संपूर्ण समाज के प्रति जिम्मेदार होनी चाहिए। इस पहलू के प्रति बहु-आयामी दृष्टिकोण हो सकता है। विधि आयोग ने उनमें से केवल एक की इस रिपोर्ट में चर्चा की है।

5.13. सरकार या अपने कर्तव्यों के निर्वहन में कार्य करने वाले लोक सेवक को अंतर्वलित करने वाली मुकदमेबाजी के अतिरिक्त कई कानून हैं जिनके अधीन किसी अधिकार का दावा तब तक नहीं किया जा सकता है जब तक उस व्यक्ति पर, जिसके विरुद्ध अधिकार का दावा किया जाना है और अनुतोष के लिए प्रार्थना की जानी है, मांग की सूचना की तामील नहीं की जाती है। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 80 उस धारा में विहित रीति से एक कानूनी सूचना की तामील की जानी विहित करती है जब या तो सरकार या अपने कर्तव्यों के निर्वहन में कार्य करते हुए किसी लोक सेवक के विरुद्ध वाद लाया जाना है। इसी प्रकार संपत्ति अंतरण अधिनियम के अधीन यदि कोई भू-स्वामी अपने द्वारा पट्टे पर दिए गए परिसर को पुनः प्राप्त करना चाहता है तो अधिधृति को समाप्त करने की सूचना की तामील करनी होगी जब तक कि अभिधृति समय के व्यतीत हो जाने से समाप्त नहीं हो गई है। इस स्थिति में किराया अधिनियमों को आरंभ करने के पश्चात् भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। जब परमादेश के लिए भी प्रार्थना की रिट याचिका फाइल की जानी होती है तो न्याय की मांग करते हुए सूचना की तामील करनी होती है। सूचना की तामील करने के सिद्धांत का उन सभी संभावी क्षेत्रों पर विस्तार करने की आवश्यकता है जहां झगड़े से मुकदमेबाजी आरंभ हो सकती है। विधि आयोग की राय है कि उस मुकदमेबाजी के सिवाय जहां तुरंत अनुतोष आवश्यक है मांग की सूचना, उस व्यक्ति के निमित्त, जो किसी अमुक अधिकार या अनुतोष का किसी अन्य व्यक्ति के विरुद्ध दावा करता है जिसमें कोई कृत्रिम व्यक्ति या विधिक व्यक्ति भी हो सकता है, जारी की जाए। सूचना के प्रक्रम को सम्मिलित करने का प्रयोजन अन्य पक्ष को यह सूचित करना है कि मुकदमेबाजी करना अनुध्यात है और उसे मुकदमेबाजी से बचने का अवसर देना है। यदि दूसरा पक्ष मुकदमेबाजी के लिए आसक्त नहीं है और उचित तथा न्यायपूर्ण रीति से कार्य करने के लिए रजामंद है तो सूचना उसे चेतावनी देगी कि संभावी मुकदमेबाजी का संकट है जब तक कि पक्षकार मिलकर विवाद का निपटारा नहीं कर लेते।

5.14. सामान्य रूप से कोई वाद या विधिक कार्रवाई आरंभ करने का इच्छुक पक्षकार पहले वकील से संपर्क करेगा। वकील को सूचना देनी चाहिए और उस सूचना में उसे यह विनिर्दिष्ट करना चाहिए कि दूसरे पक्ष को सूचना की प्राप्ति पर अपना वकील नामनिर्दिष्ट करना चाहिए। यह बाध्यकर बना दिया जाना चाहिए। एक बार दूसरा पक्ष अपना वकील नामनिर्दिष्ट कर देता है और सूचना का उत्तर देता है तो दोनों वकीलों के लिए यह कानूनी तौर पर बाध्यकर बना दिया जाना चाहिए कि वे पंद्रह दिन की अवधि में आपस में मिलें जिसके बीच कोई कार्रवाई प्रारंभ नहीं की जा सकती। यदि वाद या विधिक कार्रवाई के लिए परिसीमा समाप्त होने वाली है तो वह कानूनी उपबंध द्वारा पंद्रह दिन के लिए बढ़ा दी जाएगी जो अनुग्रह की अवधि है जिसके भीतर वकीलों को अवश्य मिलना चाहिए। इस बैठक में वकीलों को एक दूसरे के दृष्टिकोण का गुणग्रहण करना चाहिए, साक्ष्य का विनिमय करना चाहिए और यह पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिए कि क्या लेने-देने के उचित दृष्टिकोण द्वारा विवाद का युक्तियुक्त हल संभव है। बैठक के कार्यवृत्त रखे जाने चाहिए। यदि विवाद का निपटारा हो जाता है तो सहमति के निबन्धन लिख लिए जाने चाहिएं और सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 23 के नियम 3 के अधीन न्यायालय को प्रस्तुत किए जाने चाहिएं जिस पर न्यायालय सहमति डिक्री पारित करे। यदि बैठक में बातचीत के अनुक्रम में संपूर्ण विवाद का निपटारा नहीं हो पाता है किंतु आंशिक सहमति प्राप्त की जाती है तो उसे अभिलिखित कर लेना चाहिए और दोनों पक्षों पर आबद्धकर मानना चाहिए। मुकदमेबाजी विवाद के शेष भाग के लिए आरंभ हो सकेगी। बातचीत के प्रक्रम पर विवाद को निपटाने में असफलता की दशा में मुकदमेबाजी आरम्भ करना अनुज्ञात होना चाहिए किंतु उस दशा में वादपत्र में यह प्रकथन अवश्य होना चाहिए कि ऐसा प्रयास किया गया है और उस प्रयत्न को साक्ष्यित करने वाला दस्तावेज वादपत्र के साथ संलग्न किया जाना चाहिए। दूसरा पक्ष, यह सूचित किए जाने पर कि मुकदमा फाइल किया गया है समन की तामील होने की प्रतीक्षा किए बिना उपस्थित होना चाहिए। तब न्यायालय को निपटारा न किए गए विवाद की सीमा की जांच करनी चाहिए और मामला सुलह न्यायालय को निर्देशित करना चाहिए। यदि संभव हो तो सुलह न्यायालय को पक्षकारों को उचित समझौता करने के लिए प्रेरित करना चाहिए। सुलह न्यायालय को, बातचीत के प्रक्रम पर तैयार किए दस्तावेजों का परिशीलन करने के पश्चात् अभिनिश्चित करना चाहिए कि बातचीत

के समय कौन सा पक्ष अन्यायपूर्ण ढंग से अड़ियल था। यह दो प्रक्रमों पर अर्थात् वकीलों की बैठक के प्रक्रम पर और उस प्रक्रम पर जब मामले में सुलह न्यायालय द्वारा कार्यवाही की जाती है, अभिनिश्चित किया जाना चाहिए। अंततोगत्वा यदि विचारण चलता रहता है अड़ियल दर्शित किए गए और दृष्टिकोण में अन्यायपूर्ण भी दर्शित किए गए पक्षकार पर भारी खर्चा डालना चाहिए जिसमें विधि आयोग द्वारा अपनी पूर्वतर रिपोर्ट[6] में कहे गए न्यायालय की स्थापना का खर्चा भी सम्मिलित है।

5.15. वृत्ति के गौरव का उद्धार करने के लिए यहां केवल एक छोटे से कदम का सुझाव दिया जाता है। यदि इसे पूर्ण रूप से कार्यान्वित किया जाता है तो आयोग को विश्वास है कि "विवाद के दलाल" से आरोपित किए जाने के स्थान पर वे विवाद के आरोग्यकारी और समाधानकर्ता की प्रास्थिति अर्जित कर लेंगे। इस परिणाम को छोटे से रूप में प्राप्त करने के लिए विधि आयोग यह सिफारिश करता है कि सूचना और उत्तर के विनिमय पर वकीलों पर आपस में मिलने और या तो विवाद को निपटाने या उसके क्षेत्र को कम करने का कानूनी कर्तव्य अधिरोपित करना चाहिए और इस निमित्त प्राप्त किए गए परिणाम की नियमित रिपोर्टें प्रकाशित की जानी चाहिएं। प्रकाशित रिपोर्ट सामाजिक लेखा परीक्षा के अधीन होगी जिससे न केवल वृत्ति की प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी अपितु असहनयोग्य दबाव के अधीन प्रणाली के उद्धार में उनके योगदान का वस्तुपरक साक्ष्य भी होगी।

अध्याय 6

उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण की अधिकारिता

6.1. सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 115 न्यायालय को किसी ऐसे मामले का अभिलेख मंगाने की शक्ति प्रदत्त करती है जिसका उच्च न्यायालय के अधीनस्थ किसी न्यायालय ने विनिश्चय किया है और जिसकी कोई भी अपील नहीं होती है और यदि यह प्रतीत होता है कि—

(क) ऐसे अधीनस्थ न्यायालय ने ऐसी अधिकारिता का प्रयोग किया है जो उसमें विधि द्वारा निहित नहीं है, अथवा

(ख) ऐसा अधीनस्थ न्यायालय ऐसी अधिकारिता का प्रयोग करने में असफल रहा है जो इस प्रकार निहित है, अथवा

(ग) ऐसे अधीनस्थ न्यायालय ने अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने में अवैध रूप से या तात्विक अनियमितता से कार्य किया है,

तो उच्च न्यायालय उस मामले में ऐसा आदेश कर सकेगा जो वह ठीक समझे। 1976 के संशोधनकारी अधिनियम द्वारा एक परन्तुक इस धारा में जोड़ा गया है। उसे यहां उद्धरित करना आवश्यक नहीं है।

6.2. इस अधिकारिता के संक्षेप में उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण की अधिकारिता के रूप में वर्णित किया गया है। अनुभव से पता चला है और इस धारणा को सिद्ध करने के लिए किसी सांख्यिकीय समर्थन की आवश्यकता नहीं है कि पुनरीक्षण की यह अधिकारिता वादों के विचारण को रोके रखने और वादों के निपटारे को विलंबित करने के लिए बहुत सीमा तक जिम्मेदार है। प्रथम विधि आयोग ने अपनी 14वीं रिपोर्ट में पुनरीक्षण की शक्ति को बनाए रखने की बुद्धिमता की जांच की और अधिकारिता के प्रयोग में कुछ अवरोधों की व्यवस्था करके उसको बनाए रखने की सिफारिश की। सिविल प्रक्रिया संहिता की व्यापक चर्चा करते हुए विधि आयोग ने अपनी 27वीं रिपोर्ट में 14वीं रिपोर्ट में की गई अपनी सिफारिश को दोहराया। सिविल प्रक्रिया संहिता की पुनः जांच करते समय विधि आयोग ने अपनी 54वीं रिपोर्ट में सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 को पूर्ण रूप से हटाने की यह संप्रेक्षण करते हुए सिफारिश की कि वादों के विचारण में विलंब का कई बार कारण अंतर्वर्ती आदेशों के विरुद्ध पुनरीक्षण के लिए याचिकाओं का ग्रहण करना है जिसका सदैव परिणाम कार्यवाहियों को रोकना है। वास्तव में कई मामलों में उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण की अधिकारिता का सहारा लेने का पक्षकारों का उद्देश्य कार्यवाहियों[3] की प्रगति में विलंब करना प्रतीत होता है। उच्च न्यायालय बकाया समिति ने यह राय अभिव्यक्त की कि अंतवर्ती आदेशों के विरुद्ध उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण की शक्ति को हटा दिया जाना चाहिए।[4]

6.3. जैसे पुनरीक्षण की इस शक्ति से पर्याप्त हानि नहीं हुई हो, संविधान के अनुच्छेद 227 का निर्वचन इस प्रकार किया गया है जिससे उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण की शक्ति की व्याप्ति बढ़ जाए। संविधान का अनुच्छेद 227 उच्च न्यायालय द्वारा उन राज्यक्षेत्रों के भीतर जिनके संबंध में वह अधिकारिता का प्रयोग करता है, सभी न्यायालयों और अधिकरणों पर अधीक्षण की शक्ति प्रदत्त करता है। अधीक्षण की इस शक्ति का निर्वचन सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 की तुलना में मुकदमेबाजी की प्रगति में अधीनस्थ न्यायालय द्वारा की गई किसी या प्रत्येक गलती को सुधारने में विस्तृत अधिकारिता प्रदत्त करने के लिए किया गया है। जब कभी सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 के अधीन पुनरीक्षण की शक्ति के प्रयोग में कोई मजबूरी महसूस की गई पक्षकारों ने अनुच्छेद 227 के अधीन विस्तृत अधिकारिता का सहारा लिया। उत्तर प्रदेश राज्य ने राज्य को उसके लागू होने में सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 का संशोधन, उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण की अधिकारिता को ऐसे वादों तक सीमित करके किया जिसमें विवाद की विषयवस्तु का मूल्य 20,000 रुपए या अधिक या जहां वाद 1 अगस्त, 1978 से पहले संस्थित किए गए थे और अन्य सभी मामलों में जिला न्यायालय को अंतरित की। संशोधन की पुष्टि करते हुए उच्च न्यायालय ने यह संप्रेक्षण किया कि न्याय तक पहुंच से धनी और निर्धन व्यक्तियों की अंतिमता तक पहुंच विवक्षित है——————न्यायिक सुधार अब कोरा प्रयोग है इंजीनियरी परियोजना नहीं

किंतु उस थोड़ी सी भी ध्वनि पर भी वृत्ति द्वारा मुकदमेबाजी के अभिशाप के रूप में घोर आपत्ति की जाती है जो दुर्भाग्यिपूर्ण है।[5]

6.4. सतीशचन्द्र समिति ने विधि आयोग की सिफारिश से विसम्मति प्रकट की और जिला न्यायालय की अधिकारिता के कुछ और विस्तार किए जाने के साथ उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा धारा 115 में किए गए संशोधन के पक्ष में अपना झुकाव दिखाया।

6.5. क्या स्थिति में सुधार हुआ है ? उत्तर स्पष्ट रूप से नकारात्मक है। अंतवर्ती आदेशों के विरुद्ध उच्च न्यायालय या जिला न्यायालय की पुनरीक्षण की शक्ति की क्या उपयोगिता है ? किसी अंतिम आदेश के विरुद्ध किसी पुनरीक्षण याचिका का गुणाग्रहण किया जा सकता है और "अंतिम आदेश" पद और मुकदमेबाजी की विषयवस्तु नहीं होना चाहिए। "अंतिम आदेश" पद से मुकदमे का पूर्ण रूप से अंतिम निपटारा अभिप्रेत होना चाहिए जिसमें आदेश किया जाता है और मुकदमें के संबंध में कार्यवाही करने वाले न्यायालय से कुछ और करना अपेक्षित नहीं है। अंतर्वर्ती आदेशों के संबंध में अनुभव से पता चला है कि वाद के स्थगन के लिए किसी आवेदन" की खारिजी भी पुनरीक्षण याचिका की विषयवस्तु रही है।

6.6. साधारणतया यह स्वीकार किया जाता है कि वाद की प्रगति में विलंब करने में हितबद्ध कोई व्यक्ति कोई आवेदन करता है, चाहे वह बिल्कुल असंगत हो, कोई आदेश प्राप्त करता है और पुनरीक्षण के लिए उच्च न्यायालय में समावेदन करता है। जब तक इसे ग्रहण न कर लिया जाए वाद के स्थगन की इस आधार पर मांग की जाती है कि न्यायालय के आदेश को पहली ही चुनौती दी गई है। यदि ग्रहण कर लिया जाए तो रोक साधारण अनुक्रम में दी जाएगी और वाद की प्रगति वर्षों भर रुकी रहेगी। इस उपबंध के दुरुपयोग को एक दृष्टांत से स्पष्ट किया जा सकता है। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9 के नियम 8 में यह उपबंध है कि उस तारीख को जिसको वाद सुनवाई के लिए रखा जाता है वादी के उपस्थित होने में व्यतिक्रम के लिए न्यायालय वाद को खारिज कर देगा। आदेश 9 के नियम 9 में यह उपबंध है कि जब वाद इस प्रकार खारिज कर दिया जाता है तो वादी खारिजी को अपास्त कराने के लिए आदेश के लिए आवेदन कर सकेगा और यदि वह न्यायालय का समाधान कर देता है कि जब वाद की सुनवाई के लिए पुकार पड़ी थी उस समय उसकी अनुपस्थिति के लिए पर्याप्त हेतुक था तो न्यायालय खर्चों के बारे में निबंधनों पर खारिजी को अपास्त करने का आदेश करेगा। आदेश 43 के नियम 1 का खंड (ग) वाद की खारिजी को अपास्त करने के लिए आवेदन को नामंजूर करने के आदेश के विरुद्ध जो आदेश 9 के नियम 9 के अधीन दिया गया हो अपील का अधिकार प्रदत्त करता है। विधि की नीति यह प्रतीत होती है कि यदि उस न्यायालय का जिसने वाद खारिज किया था समाधान हो जाता है कि जब वाद सुनवाई के लिए रखा गया था उस समय वादी की अनुपस्थिति के लिए पर्याप्त हेतुक था तो वह वाद की खारिजी को अपास्त करेगा और यदि न्यायालय वाद को खारिज करने के आदेश को अपास्त नहीं करता है तो आवेदन को नामंजूर करने वाले न्यायालय का आदेश का अपील द्वारा पुनर्विलोकन किया जा सकता है। इससे आवश्यक तौर पर यह विवक्षित है कि यदि आवेदन मंजूर किया जाता है तो कोई अपील नहीं होगी और यह ऐसा ही होना चाहिए। यदि वाद को खारिज करने का आदेश अपास्त नहीं किया जाता है तो वादी वाद से वंचित हो जाता है। इसलिए उसे अपील का अधिकार दिया गया है। यदि दूसरी ओर यदि न्यायालय वाद को खारिज करने के आदेश को अपास्त कर देता है तो मामले में आगे कार्यवाही होगी। तब प्रतिवादी इसके बारे में शिकायत नहीं कर सकता किंतु अनुभव से पता चलता है कि चाहे आदेश 9 के नियम 8 और नियम 9 और आदेश 39 के नियम 1 (ग) को संयुक्त रूप से पढ़ने से यथाप्रकट नीति यह है कि उपस्थिति में व्यतिक्रम के लिए वाद को खारिज करने का आदेश ही अपील न्यायालय द्वारा पुनर्विलोकित किया जा सकेगा फिर भी प्रतिवादी पुनरीक्षण के तौर पर वाद की खारिजी के अपास्त करने के लिए आवेदन मंजूर करने के आदेश की सत्यता को साधारणतया प्रश्नगत करता है। उस समय के दौरान जब पुनरीक्षण लंबित है वाद की आगे सुनवाई रोक दी जाएगी। पुनरीक्षण आवेदन के खारिज किए जाने के, जो स्पष्ट रूप से होगी वर्षों पश्चात् वाद पुनः रुज्जीवित किया जाता है और आगे कार्यवाही होती है। और इस प्रकार की चालों का कई बार आश्रय लिया गया है। पुनरीक्षण की अधिकारिता के प्रयोग द्वारा यही हानि होती है। लाभ बहुत कम है क्योंकि जहां अंतवर्ती आदेश कुछ प्रभाव के हैं वहां आदेश 43 के नियम 1 में उसके विरुद्ध अपील के लिए उपबंध है। इसलिए मामले की सभी परिस्थितियों को और अब तक हुए अनुभव तथा पहले अभिव्यक्त की गई राय और उद्भूत हुई वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखते हुए विधि आयोग की यह राय है कि जहां तक अंतर्वर्ती आदेशों का संबंध है धारा 115 को हटा दिया जाना चाहिए। इससे बाद की प्रगति की स्थिरता के कारण का लोप हो जाएगा।

अध्याय 7

दांडिक अधिकारिता

7.1. नगरीय मुकदमेबाजी की चर्चा करते समय यह चकाचौंध करने वाला लोप होगा यदि नगर क्षेत्रों में दांडिक मामलों में कार्यवाही करने वाली वर्तमान न्यायालय संरचना में कुछ परिवर्तन का सुझाव नहीं दिया जाता है। निस्संदेह जब दंड प्रक्रिया संहिता का व्यापक पुनरीक्षण किया जाएगा तब दांडिक मुकदमेबाजी से संबंधित प्रश्न की पर्याप्त रूप से चर्चा की जा सकेगी। फिर भी मध्यंतर काल में कुछ कदम उठाए जा सकते हैं जिनसे नगर क्षेत्रों में दांडिक न्यायालयों पर भार कम हो।

7.2. ब्रिटिश शासन के दौरान और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कुछ वर्षों के लिए मामूली नैमी दांडिक मामलों जैसे नगरपालिक विधि का उल्लंघन, यातायात विनियम, साधारण प्राइवेट शिकायतें और इसी प्रकृति के मामले के संबंध में कार्यवाही करने के लिए अवैतनिक मजिस्ट्रेट की नियुक्ति करने का एक ढंग था। अनुसंधान से पता चला है कि ब्रिटिश शासन के अधीन अवैतनिक मजिस्ट्रेट नियुक्त करने में परख ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति भक्ति थी। शक्ति का उपयोग राज्य द्वारा उपहार देने के लिए किया जाता था। ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन कुछ उपाधि-धारक अवैतनिक मजिस्ट्रेटों के रूप में नियुक्त किए गए थे। तब भी कुछ का कार्य अच्छा होता था किंतु साधारणतया उनमें से बहुत बड़ी संख्या प्रत्याशा के अनुकूल नहीं थी जिसके परिणामस्वरूप प्रणाली कुख्यात हो गई। और बदले की भावना ने उस पर अपना अधिकार कर लिया। प्रणाली समाप्त कर दी गई। उनके स्थान पर वैतनिक मजिस्ट्रेटों के न्यायालय स्थापित किए गए।

7.3. दांडिक मुकदमेबाजी में इतनी वृद्धि हुई है और अपराधों का चार्ट ऐसी गर्दन-तोड़ गति से ऊपर उठ रहा है कि सभी प्रकार के दांडिक मामलों के लिए वैतनिक मजिस्ट्रेट प्रणाली की व्यवस्था करना कठिन है। कुछ लोगों की राय है कि भारतीय दंड संहिता, 1860 में अधिकथित अपराधों की बहुत बड़ी संख्या को, वर्तमान समाज की नैतिकता से संगत होते हुए, हटा देना चाहिए। एक यह विश्वास है कि अतिवैधीकरण का दोषी होते हुए निबंधीकरण का मामला बनाया जा रहा है। आचरण जिनको अपराध की कोटि से निकालने की आवश्यकता है वे समलैंगिकता, वैश्यावृत्ति, गर्भपात, द्विविवाह आदि के हैं। इसका गहन अध्ययन अपेक्षित है और विधि आयोग ने इस निमित्त अनुसंधान आरम्भ कर दिया है। फिर भी पूर्ण जांच करने और विचारवान् रिपोर्ट प्रस्तुत करने में कुछ समय लगेगा।

7.4. मध्यंतर काल में अवैतनिक मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति करने की प्रणाली पुनरारंभ करनी चाहिए। किंतु पूर्व पद्धति से विपथन करते हुए एक विनिर्दिष्ट योग्यता विहित की जानी चाहिए कि न्यायपालिका के केवल वही सेवानिवृत्त कार्मिक अवैतनिक मजिस्ट्रेटों के रूप में नियुक्त किए जाएं जिन्होंने अपने सक्रिय जीवन में न्यायाधीशों के रूप में सेवा की थी। विनिश्चय करने में उनका अनुभव, मामलों के संबंध में कार्यवाही करने का विशेषज्ञीय ज्ञान, न्याय की उनकी भावना और संयत व्यवहार और उनका सुव्यवस्थित दृष्टिकोण जो उन्होंने संपूर्ण कार्यकारी जीवन में उपाप्त किया हैं उन्हें आदर्श अवैतनिक मजिस्ट्रेट बनाएगा। उन्हें ऐसा कोई भी कार्य दिया जा सकता है जो एक वैतनिक मजिस्ट्रेट कर सकता है।

7.5.. इसलिए यह सिफारिश की जाती है कि पूर्वगामी पैरा में दी गई शर्त के अधीन रहते हुए अवैतनिक मजिस्ट्रेट तुरंत नियुक्त किए जाएं। उन्हें उन्हीं न्यायालयों में बैठना चाहिए जहां नियमित न्यायालय प्रातः काल बैठते हैं। उनकी संदाय के निबंधन और शर्तें तैयार की जा सकती हैं और वे सभी पुराने मामले ले सकते हैं जिन पर वह अपना ध्यान संकेंद्रित कर सकते हैं और आसीन न्यायाधीशों को भार से मुक्त कर सकते हैं। यह एक ही सुझाव नगरों में दांडिक मुकदमेबाजी के भार को कम करने में सहायक होगा।

7.6. इस रिपोर्ट को तैयार करने में विधि आयोग कलकत्ता उच्च न्यायालय की सेवानिवृत्त न्यायाधीश श्रीमती ज्योतिर्मयी नाग द्वारा की गई सहायता को धन्यवाद सहित अभिस्वीकार करता है।

7.7. विधि आयोग तदनुसार सिफारिश करता है।

(डी० ए० देसाई)
अध्यक्ष

(बी० एस० रमादेवी)
सदस्य-सचिव

नई दिल्ली, 8 अगस्त, 1988

टिप्पण और संदर्भ

अध्याय 1

1. भारत का विधि आयोग, ग्राम न्यायालय, 114वीं रिपोर्ट ।
2. भारत का संविधान, अनुच्छेद 235 ।
3. भारत का विधि आयोग, अखिल भारतीय न्यायिक सेवा का बनाना, 116वीं रिपोर्ट ।
4. भारत का विधि आयोग, उच्च न्यायालय के बकाया मामले—एक नई दृष्टि, 124वीं रिपोर्ट ।
5. भारत का विधि आयोग, उच्चतम न्यायालय पर रिपोर्ट—एक नई दृष्टि, 125वीं रिपोर्ट ।

अध्याय 3

1. मेटलवेयर और कंपनी आदि बनाम बंसीलाल शर्मा और कंपनी आदि (1979) 3 उच्चतम न्यायालय मामले 398 पृष्ठ 407 ।
2. सीफार्ड कोर्ट एस्टेट्स लि० बनाम एशर (1949) 2 अखिल भारतीय रिपोर्टर 155 पृष्ठ 164 ।
3. बंगलौर जल प्रदाय और मलवहन बोर्ड बनाम राजप्पा (1978) 2 उच्चतम न्यायालय मामले 213 पृष्ठ 285 ।
4. एस० बी० नोरोनाह बनाम प्रेम कुमारी खन्ना अखिल भारतीय रिपोर्ट 1980 उच्चतम न्यायालय 193 पृष्ठ 195-196 ।
5. यथोक्त, पृष्ठ 197 ।
6. दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम की धारा 14(1)(ङ) ।
7. प्रीसीजन स्टील एंड इंजीनियरिंग वर्क्स और एक अन्य बनाम प्रेम देवा निरंजन देवा तायाल (1982) 3 उच्चतम न्यायालय मामले 270 पृष्ठ 279 ।
8. भारत का विधि आयोग, ग्राम न्यायालय पर रिपोर्ट, 114वीं रिपोर्ट ।
9. यथोक्त, सहभागी न्याय प्रणाली पर व्यापक चर्चा के लिए पैरा 5.6 से 5.9 देखें ।
10. यथोक्त, अननुभवी न्यायाधीशों का पेनल बनाने के लिए चयन पर व्यापक चर्चा के लिए पैरा 5.16 से 2.19 देखें ।
11. रोमन तोमासिक एंड माल्कोल्म एम० फीले, पड़ौस न्याय : उद्भूत होने वाले विचार का निर्धारण (1982) पृष्ठ 10 ।
12. यथोक्त, पृष्ठ 82 ।
13. यथोक्त ।
14. इंडियन एक्सप्रेस (दिल्ली संस्करण) तारीख 10 फरवरी, 1988 पृष्ठ 10 ।

अध्याय 5

1. बी० बी० विश्वनाथ अय्यर, सिविल प्रक्रिया संहिता, चौथा संस्करण, जिल्द 2, पृष्ठ 1048–1052, आदेश 26 के नियम 4, 7 और 8 के अधीन ।
2. भारत का विधि आयोग—उच्च न्यायालयों में बकाया मामलों पर रिपोर्ट—एक नई दृष्टि, पैरा 4.12 से 4.17 और भारत का विधि आयोग, उच्चतम न्यायालय पर रिपोर्ट, एक नई दृष्टि—125वीं रिपोर्ट ।

3. सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 39 का नियम 1(द) देखें ।
4. भारत का विधि आयोग, उच्चतम न्यायालय में मौखिक और लिखित तर्क, 99वीं रिपोर्ट ।
5. नरोत्तमदास एल० शाह बनाम पटेल मंगनभाई रेवाभाई और एक अन्य, 1984 गुजरात ला हेरल्ड 687 ।
6. भारत का विधि आयोग, मुकदमेबाजी का खर्चा, 128वीं रिपोर्ट ।

अध्याय 6

1. भारत का विधि आयोग, न्याय प्रशासन के सुधार पर रिपोर्ट, 14वीं रिपोर्ट, पैरा 30, पृष्ठ 429 ।
2. भारत का विधि आयोग, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 पर रिपोर्ट, 27वीं रिपोर्ट पैरा 57, पृष्ठ 25 ।
3. भारत का विधि आयोग, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 पर रिपोर्ट, 54वीं रिपोर्ट, पृष्ठ 96-97 ।
4. उच्च न्यायालयों में बकाया मामले समिति, 1972 की रिपोर्ट, पैरा 71, पृष्ठ 67 ।
5. श्री विष्णु अवतार आदि बनाम शिव अवतार और अन्य, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1980 उच्चतम न्यायालय 1575 ।
6. बी० वी० विश्वनाथ अय्यर, सिविल प्रक्रिया संहिता, चौथा संस्करण, जिल्द 1 पृष्ठ 35 ।

88-M/J(D)779MofLJ&CA—3

उपाबंध 1

सं० एफ-44(1)86-वि०आ०

भारत का विधि आयोग

शास्त्री भवन,

नई दिल्ली-110001

तारीख 14 जनवरी, 1987

सेवा में,

विषय : महानगर क्षेत्रों से भिन्न क्षेत्रों में नगरीय मुकदमेबाजी में सुधारों पर कार्यपत्र ।

महोदय/महोदया,

भारत के विधि आयोग को कई पहलुओं से न्यायिक सुधारों के अध्ययन और सुझाव देने का कार्य सौंपा गया है । निर्देश निबंधनों के अनुसरण में आयोग ने "ग्राम न्यायालय (निम्नतम स्तर पर विवादों के निपटारे के लिए वैकल्पिक मंच) नामक रिपोर्ट, जो ग्रामीण मुकदमेबाजी से संबंधित है, भारत सरकार को प्रस्तुत की ।

2. आयोग का महानगर क्षेत्रों से भिन्न क्षेत्रों में नगरीय मुकदमेबाजी की बाबत गहन अध्ययन करने का आशय है । तदनुसार एक कार्यपत्र तैयार किया गया है जिसकी एक प्रति संलग्न है ।

3. आयोग इस विषय पर हितबद्ध व्यक्तियों और निकायों के विचार/राय अभिनिश्चित करना चाहता है । यह सराहनीय होगा यदि आपके विचार/राय आयोग को 31 मार्च, 1987 तक प्राप्त हो जाएं ।

आपकी,

(बी० एस० रमादेवी)

सदस्य-सचिव ।

संलग्नक—कार्यपत्र

प्रस्तावना

1.1. फरवरी, 1986 में वर्तमान विधि आयोग का प्रस्तावित न्यायिक सुधार आयोग को कार्य सौंप दिए जाने पर, वर्तमान विधि आयोग के कार्य की योजना में संपूर्ण प्राथमिकता पुनः निश्चित की गई और प्रस्तावित न्यायिक सुधार आयोग के लिए तैयार किए गए प्रत्येक निर्देश निबंधन की जांच करने, गहन विश्लेषण करने और रिपोर्ट तैयार करने को उच्च प्राथमिकता दी गई । पहला और तीसरा निर्देश निबंधन नीचे उद्धरित किया जाता है ।

"1. (i) विवादों का निपटारा करने के लिए न्याय पंचायतों या अन्य तंत्रों को ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित, विस्तृत और सुदृढ़ करके,

(ii) समुचित क्षेत्रों और केन्द्रों में परिनिश्चित अधिकारिता और शक्तियों वाले सहभागी न्याय का तंत्र स्थापित करके,

(iii) उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में कार्य की भारी को कम करने के लिए न्यायिक उत्क्रम में अन्य श्रेणियां स्थापित करके न्याय प्रशासन प्रणाली के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता ।

2. * * * * * * *

3. साधारणतया मामलों का शीघ्र निपटारा करने, अनावश्यक मुकदमेबाजी और मामलों की सुनवाई में विलम्ब का लोप करने तथा प्रक्रियाओं और प्रक्रिया संबंधी विधियों में सुधार और विशिष्टतया मद 1(i) और 1(ii) में प्रकल्पित निबंधनों के लिए उचित प्रक्रियाएं खोजने की दृष्टि से प्रक्रिया संबंधी विधियां ।'

उद्धरित निर्देश निबंधन का विश्लेषण इस क्षेत्र की सीमा स्थिर करता है जिसमें विधि आयोग न केवल नवीन परिवर्तन के लिए निम्नतम न्यायालय से उच्चतम न्यायालय तक न्याय प्रदाय प्रणाली की पुनःसंरचना करने की अपितु न्याय प्रशासन प्रणाली को न्यायोन्मुख और लोकोन्मुख बनाने की दृष्टि से उनका विकेन्द्रीकरण करके उसे परिणामुन्मुख बनाने के लिए खोज करेगा और उसके द्वारा संविधान के अनुच्छेद 39क में अधिकथित लक्ष्य की प्राप्ति करेगा अनुच्छेद 39क में यह अपेक्षा की गई है कि "राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि विधि तंत्र इस प्रकार काम करे कि समान अवसर के आधार पर न्याय सुलभ हो और वह विशिष्टतया, यह सुनिश्चित करने के लिए कि आर्थिक या किसी अन्य निर्योग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाए, उपयुक्त विधान या स्कीम द्वारा या किसी अन्य रीति से निःशुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा ।" अनुच्छेद 39क में दी गई आज्ञा को कार्यरूप देने के लिए ऐसे विधिक तंत्र को बनाना आवश्यक हो गया जो न्याय की अभिवृद्धि करे । न्याय तक पहुंच आसान बिना अड़चन, सस्ती या धन या प्रास्थिति के कारण किसी बाधा के बिना हो । अनुच्छेद 39क में "समान अवसर" पद से यह आवश्यक हो गया कि धनी और निर्धन, धनवान और गरीब को न्याय तक पहुंच में समान अवसर होगा और प्रास्थिति, धन या आय में असमानता की अवहेलना करके तंत्र न्याय की अभिवृद्धि करेगा । वर्तमान समय की वास्तविकता का मान रखते हुए कि विधिक सहायता अभिप्राप्त करने की कीमत समाज के बहुत बड़े भाग की पहुंच के परे है और विरोधी प्रणाली के प्रति उन्मुख होते हुए जहां वकील की उपस्थिति के बिना न्याय अभिप्राप्त करना संभव नहीं, आर्थिक या अन्य निर्योग्यताओं के होते हुए भी न्याय प्राप्त करने के अवसरों को समान बनाने के लिए निःशुल्क विधिक सहायता की एक स्कीम तैयार करनी पड़ी । विधि आयोग को भी, अपने सामान्य कार्य के भागरूप न्यायिक प्रशासन के तंत्र को, यह सुनिश्चित करने के लिए कि वह समय की युक्तियुक्त पुकार के प्रति उत्तरदायी हो, "पुनर्विलोकन के अधीन रखने" के लिए कहा गया ।

88-M/J(D)779MofLJ&CA—3

1.2. विधि आयोग ने 14वीं, 24वीं, 77वीं, 79वीं और अन्य रिपोर्टों में किए गए पहले विधि आयोगों के पूर्वतर प्रयत्नों का अध्ययन करने के पश्चात् मामले को नए सिरे से ऐसे कोण से देखने का विनिश्चय किया जिसकी ओर अभी तक ध्यान नहीं दिया गया था। यह उपधारणा की गई थी कि वर्तमान ऊर्ध्वाकार न्याय प्रणाली जो ग्रामीण स्तर से राजधानी में जिला स्तर की व्यवस्था, राज्य स्तर की व्यवस्था और राष्ट्रीय स्तर तक पहुंच कर चालित होती है अपने आपको भारत गणराज्य की आवश्यकताओं के अनुसार ढाल सकेगी। चार दशक के इसके कार्यकरण ने इस धारणा को निस्संदेह मिथ्या कर दिया है। "वर्तमान प्रणाली से दूर रहो" के समर्थक भी अनिच्छा से यह स्वीकार करते हैं कि हर हालत में प्रणाली मरणासन्न हो गई है और इसे सक्रिय, प्रभावी, कम खर्चीला और आसानी से पहुंचयोग्य बनाने के लिए इसकी पुनःसंरचना करना अपेक्षित है। यह भी स्वीकार किया जाता है कि वर्तमान प्रणाली सामाजिक न्याय सुनिश्चित नहीं करती है। यह भी बराबर स्वीकार किया जाता है कि निर्धन, वंचित, असुविधाग्रस्त और गरीब व्यक्तियों के लिए बहुत कम चतुर विधि-व्यवसायों को छोड़कर धन भंयकर रूप से विधि में चतुर विधि-व्यवसायों को नियंत्रित करता है यह विवाद भी नहीं किया जाता है कि न्यायालयों में न्याय प्रशासन पर वकीलों की चातुरी का बहुत सीमा तक असर होता है और असमान लड़ाई से कई बार अन्यायपूर्ण परिणाम निकलते हैं। इसलिए विधि आयोग ने प्रथम कदम के रूप में उपनिवेश के दिनों के मापदंड द्वारा समस्याओं को निपटाने के लिए देश में प्रचलित न्याय प्रणाली की ऊर्ध्वाकार संरचना की पुनः जांच करने का विनिश्चय किया अर्थात् कि सभी विवाद के संबंध में जो समाज के किसी स्तर पर हों, उसी प्रकार की कार्यवाही उसी प्रक्रिया से उन्हीं विरचनाओं से की जानी चाहिए। ऐसे दृष्टिकोण ने दृढ़ वास्तविकता की अनदेखी की कि भारत ग्रामों में बसता है। यह स्वीकार किया जाता है कि जनसंख्या का 80 प्रतिशत सात लाख ग्रामों में रहता है। इस बात का विवाद भी नहीं किया जाता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में विवाद नगर क्षेत्रों में विवादों से तात्विक रूप से भिन्न होते हैं और प्रथम कथित विवाद स्वरूप, अंतर्वस्तु और क्वालिटी में महानगर स्तर पर विवादों से भिन्न हैं। यदि न्यायालय विवादों के निपटारे के लिए मंच और तंत्र की व्यवस्था करते हैं तो विवादों की प्रकृति मंच और प्रक्रिया को भी दर्शित करती है। एक साधारण, बिना जटिलता वाला विवाद अप्ररूपिक रीति में शीघ्र, सस्ता (व्यय के दृष्टिकोण से) और आसानी से पहुंच योग्य मंच का आश्रय लेकर निपटाया जाना चाहिए। ऐसे मंच को ऐसी प्रक्रिया, जो लघु और साधारण और असावधान व्यक्ति के लिए पाश का काम न करे जैसा कि वर्तमान सिविल प्रक्रिया संहिता में विन्यास किया गया है, अपनानी चाहिए। नगरीय पर्यावरण से आने वाले प्रशिक्षित न्यायाधीश ने कभी-कभी ग्राम की परम्परा और संस्कृति समझने में कठिनाई महसूस की। यदि विवाद ग्रामीण समाज के सदस्यों के बीच है जिनके अंतर्गत आदिवासी हरिजन, निरक्षर फार्म श्रमिक और ऐसे अन्य व्यक्ति हैं तो वह उसी समाज के अन्य सदस्यों द्वारा प्रभावी रूप से और शीघ्रता से निपटाया जा सकेगा क्योंकि वे स्थानीय पर्यावरण, स्थानीय परंपरा और विवाद की पृष्ठभूमि को समझने में बेहतर उपयुक्त होंगे। इसी प्रकार नगर क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले विवाद नगर निवासियों द्वारा बेहतर ढंग से समझे जाएंगे और उनका बेहतर ढंग से गुणाग्रहण किया जाएगा। उच्च न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता के पक्ष के समक्ष आने वाले विवादों का जैसे एस्कार्ट्स बनाम जीवन बीमा निगम, कंपनी अधिनियम, 1956 के अधीन मामले, पेटेंट और डिजाइन अधिनियम के अधीन याचिकाएं, व्यापार और पण्य वस्तु चिह्न अधिनियम के अधीन याचिकाएं, गुणोग्रहण उच्च न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता वाले पक्ष पर विधि व्यवसाय करने के पश्चात् पीठ पर जाने वाले न्यायाधीशों के तकनीकी दृष्टिकोण से अच्छी प्रकार से किया जाएगा। एक लंबी तैयार की गई सिविल प्रक्रिया उच्च न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता के पक्ष या महानगर क्षेत्रों में नगर सिविल न्यायालय के लिए उपयुक्त हो सकती है। विधि आयोग ने सच्चाई की जानकारी प्राप्त कर लेने पर जिसकी भूतकाल में अवहेलना की गई प्रतीत होती है निम्नतम[1] स्तर पर विवादों के निपटारे के लिए वैकल्पिक मंच पर पत्र पर कार्यपत्र तैयार करने की कार्यवाही की। अंततोगत्वा विधि आयोग ने ग्रामीण क्षेत्रों के लिए न्याय मंच की सहभागी प्रणाली पर अपनी विस्तृत[2] रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें विवादों की प्रकृति के संदर्भ में अधिकारिता, उनके निपटारे के लिए प्रक्रिया, जिसके अंतर्गत स्थल पर निपटारा है, विहित की और न्यायालय का वकीलों की सहायता पर आश्रित होना प्रभावी रूप से कम किया गया।

1. विधि आयोग द्वारा प्रकाशित कार्यपत्र ....फा 2 (6) सं वि० आ० ता० 28-10-85 ।

2. भारत का विधि आयोग, "ग्राम न्यायालय" पर रिपोर्ट, 114वीं रिपोर्ट।

न्यायालय में आने वाली 60 प्रतिशत मुकदमेबाजी के संबंध में चर्चा कर लेने के पश्चात् हमें अपना ध्यान दूसरे कदम के रूप में नगर क्षेत्रों में, जिनके अन्तर्गत महानगर क्षेत्र नहीं हैं, उद्भूत होने वाले विवादों की ओर देना चाहिए। विधि आयोग का विचार है कि भारतीय समाज तीन खंडों में विभाजित है,—अर्थात् ग्रामीण, नगर और महानगर। इन सभी क्षेत्रों में विवाद उद्भूत होते हैं। जैसा पहले बताया गया है ये विवाद एक दूसरे से तात्विक रूप में पृथक् होते हैं चाहे उनमें से कुछ सभी में साझे हों किन्तु वे बहुत कम हैं। दृष्टांत देने के लिए, ग्रामीण क्षेत्रों में विवाद भूमि और भूमि से संसक्त समस्याओं पर केंद्रित होते हैं क्योंकि कृषि उस क्षेत्र में एक मात्र उपजीवसाय होती है। नगर क्षेत्रों में विवाद, किसी विशेष क्षेत्र के औद्योगीकरण की गति पर निर्भर करते हुए विभिन्न स्वरूप प्रकृति और अन्तर्वस्तु के होंगे। विवाद नगर आवास के किराए और कब्जे, नगरपालिका कराधान, मालिकों/नियोजकों और सेवकों/कर्मचारियों आदि की बाबत हो सकते हैं। स्पष्ट रूप से नगर क्षेत्रों में कृषि भूमि की बाबत मुश्किल से कोई विवाद होगा। महानगर क्षेत्रों में विवाद वाणिज्यिक विधि, संविधान के निर्वचन, कर से संबंधित विधियों आदि के संबंध में मुकदमेबाजी पर केन्द्रित होते हैं। निर्देश निबंधनों के प्रति पूर्ण न्याय करने के लिए, ग्रामीण क्षेत्रों से उद्भूत होने वाले विवादों की चर्चा करने के पश्चात् इस कार्य पत्र में नगर क्षेत्रों में विवादों और मुकदमेबाजी के संबंध में चर्चा की गई है। इस पत्र के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रों में, एक पहलू जो विधि और विधिक न्यायालयों से संबंद्ध प्रत्येक व्यक्ति के सामने आता है वह यह है कि सिविल न्यायालय भू-स्वामियों और किराएदारों के बीच विवादों से भरे पड़े हैं। लगभग सभी राज्यों ने किराया अधिनियम अधिनियमित किए हैं। इन विधियों के अधीन मुकदमेबाजी युक्तियुक्त समय में उनके संबंध में कार्यवाही करने की न्यायालयों की परिपूर्णता की सामर्थ्य की सीमा को बहुत पहले ही पार कर चुकी है। ये मुकदमे न्यायालय का अधिकतम समय ले लेते हैं जिसके परिणामस्वरूप अन्य महत्वपूर्ण मुकदमे जैसे संविदाओं पर वाद, अपकृत्यों के लिए नुकसानी, धन संबंधी वाद और साधारण वाणिज्यिक मुकदमों को पिछला स्थान मिलता है। इस पत्र में इस विक्षोभकारी स्थिति को ठीक करने और सुधारने के लिए अर्थोपाय करने का प्रस्ताव है।

1.3. इस कार्यपत्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वही है जो निम्नतम स्तर पर विवादों के निपटारे के लिए वैकल्पिक मंच पर प्रथम कार्य पत्र की थी। इसलिए इस बात के लिए आरोपित किए जाने की आशंका होते हुए भी कि ऐतिहासिक पहलू को यहां दोहराया गया है, इससे बचा नहीं जा सकता।

उस प्रणाली के लिए जिस प्रकार यह प्रशासित की जा रही है इस आसक्त आशा सहित एक छिपा हुआ सम्मान है कि "वास्तविक आवश्यकता विद्यमान प्रणाली को हमारी स्वभाविक राष्ट्रीय विशिष्टता के संदर्भ में आधुनिक अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए और सुधारने की प्रतीत होती है न कि उसे एक अपर्याप्त प्रणाली द्वारा जो बहुत पहले त्याग दी गई थी, प्रतिस्थापित करने की"। कुछ लोगों की यह प्रतिकूल राय थी जो निश्चित रूप से महसूस करते थे कि हमारे देश में न्याय प्रशासन की ब्रिटिश प्रणाली में अभिश्रित अच्छाई नहीं रही है——————निम्नतम स्तर पर भी इसी प्रणाली से इसके विदेशी उद्भव, तकनीकीपन, अति प्ररूपिकता, प्रक्रिया और सुसंगति के कड़े नियमों और विदेशी भाषा के कारण लोगों का चित्त हटा दिया है/ग्राम स्तर पर और तालुक स्तर पर भी यह एक अन्यदेशीय प्रणाली रही है जिसका साधारण जनता के साथ कोई सजीव संपर्क नहीं है और उनके लिए अर्थपूर्ण नहीं है[2]।

1.4. सभी लोग यह स्वीकार करते हैं कि प्रचलित प्रणाली स्वरूप में उपनिवेशवादी, नागरिकों के उस वर्ग को लाभ पहुंचाने के लिए, जो अपने प्रशिक्षण और ज्ञान के कारण वाक्युक्त वर्ग था, उपनिवेशी मालिकों द्वारा आयातित और अधिरोपित की गई है। निर्देश इस देश में संगठित विधिक वृत्ति के प्रति है और निस्संदेह एक बड़ा वाक्युक्त वर्ग है जो इस प्रणाली की प्रशंसा करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रणाली ने बहुत थोड़े या बिना किसी विनिधान के असीमित उपार्जन करने का अवसर प्रदान किया है।

1. भारत का विधि आयोग—सातवीं रिपोर्ट, अध्याय 3, पैरा 3.20 पृ० 10।

2. विधिक सहायता समिति की रिपोर्ट (गुजरात सरकार, 1971, पैरा 13.12, पृ० 20।

स्वाभाविक रूप से हिताधिकारी इस प्रणाली की प्रशंसा करेंगे। विधि आयोग ने अपने प्रथम पत्र में यह बताया था कि कई उद्देश्यों में से एक जो साम्राज्य निर्माण के लिए केन्द्रीय है वह शासक मालिकों के सर्वोत्तम समूह का उच्चतर जीवन स्तर सुनिश्चित करने के लिए उपनिवेशों का आर्थिक शोषण है। इस आर्थिक शोषण के लिए आंतरिक शांति और बाह्य सुरक्षा आवश्यक है। आंतरिक शांति की गारंटी विदेशी सेना, वफादार पुलिस और ऐसी न्याय प्रणाली के अनुरक्षण से हो सकती है जो पक्षकारों को अपीलों के उत्क्रम सहित विधि न्यायालयों में लगातार मुकदमेबाजी में लगाए रखे जिससे भारत के निरक्षर व्यक्ति, जो अन्याय के शिकार हैं न्यायालयों के भंवर जाल में संघर्ष करता है और बल का सहारा लेकर विवादों का निपटारा करने के लिए सभी प्रेरणा खो देता है तथा जीवन शक्ति और शारीरिक शक्ति अपने अधिकारों का प्राख्यान करने में और अपने आर्थिक साधन मुकदमेबाजी का खर्चा देने और अपनी राजनैतिक इच्छा मुकदमेबाजी की प्रक्रिया में मूल्यवान समय की हानि द्वारा खो देता है। ब्रिटिश न्याय प्रणाली का उपहासोकन चार्ल्स डिकंस ने अपने उपन्यास "बलीक हाउस" में किया है जिसमें जार्नडिस बनाम जार्नडिस का मुकदमा पांच पीढ़ियों तक चलता रहा था। आज हमारे न्यायालयों में ऐसे कई मामले हैं जो उपनिवेशी प्रणाली की देन हैं।

1.5. चाहे न्याय अभिप्राप्त करने में समय कम करने के लिए, बकाया मामलों के ढेर को साफ करने के लिए, इसे तुलनात्मक रूप से कम खर्चीला बनाने की दृष्टि से सुधारों के सुझाव देकर 1958 से 1978 तक प्रयास किए गए हैं जिससे कि वर्तमान न्याय प्रणाली की आलोचना का कुछ सीमा तक उत्तर दिया जा सके तो भी आंकड़ों से प्रदर्शित होता है कि प्रयास असफल साबित हुए हैं। 31 दिसम्बर, 1984[1] को उच्च न्यायालयों में बढ़ते हुए मामले (12,37,566 मामले लंबित थे) और भारत के उच्चतम न्यायालय में सदैव ऊपर उठने वाला ग्राफ सकारात्मक रूप से सिद्ध करेंगे कि इन प्रयासों से न केवल वांछनीय परिणाम ही प्राप्त नहीं हुए हैं किन्तु उनसे स्थिति वास्तव में बिगड़ी है।

1.6. अधीनस्थ न्यायालयों में सिविल मामलों के निपटारे में औसत अवधि जहां असम में 369.08 दिन है वहां बिहार में 762.6 दिन है।[2] 31 दिसम्बर, 1977 का अधीनस्थ न्यायालयों में लंबित वादों और प्रकीर्ण मामलों की कुल संख्या 21,09,986[3] थी और 1982 के अन्त तक कुल संख्या 109,20,766 थी। मामलों के निपटारे में विलम्ब को कम करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता में परिवर्तनों की सिफारिशें करते हुए विधि आयोग ने 1954 और 1977 के बीच तीन रिपोर्टें प्रस्तुत कीं। इसमें ऊपर दिए गए आंकड़े अपनी कहानी स्वयं सुनाते हैं। सिविल प्रक्रिया संहिता में संशोधनों और उपांतरणों का सुझाव देने में भारत के विधि आयोग द्वारा अपनी सत्ताईसवीं रिपोर्ट में अपनाया गया सावधानीपूर्वक दृष्टिकोण का स्थान मौलिक परिवर्तनों का सुझाव देने वाले प्रस्ताव ने ले लिया और सावधानी को रोक का काम नहीं करना था जहां प्रक्रिया में व्यय और समय की आवश्यकताओं से मौलिक परिवर्तन[4] अपेक्षित थे। यह प्रयोग उपभोक्ताओं को न्याय ऐसी कीमत और युक्तियुक्त समय के भीतर, जो वे दे सकते हैं, उपलब्ध करने के लिए विनिर्दिष्ट रूप से किया गया था। यह स्वीकार किया गया कि "खर्चीली प्रक्रिया वाली प्रणाली न्याय का स्वतः पराजय कारी उपकरण है।[5]" चौवनवीं रिपोर्ट में सिविल प्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम, 1976 कई संशोधनों के सुझाव दिए गए थे। चौवनवीं रिपोर्ट में दिए गए सुझावों के आधार पर सिविल प्रक्रिया संहिता के तत्समय विद्यमान उपबंधों में कई परिवर्तन किए गए हैं और कई नए उपबंध जोड़े गए हैं। सिवाय कुछ धाराओं के यह संशोधन अधिनियम 1 फरवरी, 1977 को प्रवृत्त हो गया। तदनुसार व्यापक रूप से संशोधित सिविल प्रक्रिया संहिता जो वादों के निपटारे में लगाए जाने वाले समय को कम करने, प्रणाली को गतिमान, प्रभावी और कम खर्चीला बनाने के लिए परिकल्पित थी। आठ वर्ष से अधिक की अवधि से चलन में है, यह सभी स्वीकार करते हैं कि विवादों के निपटारे की रीति, ढंग और प्रकार पर कोई प्रभाव न डालने के अतिरिक्त यह प्रत्युत्पादक[6] साबित हुई है।

1. सितंबर, 1985 में हुए उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायमूर्तियों, मुख्य मंत्रियों और राज्यों के विधि मंत्रियों के सम्मेलन में दी गई जानकारी।
2. भारत का विधि आयोग, 14वीं रिपोर्ट, जिल्द 1, अध्याय 11 पैरा 7, पृ० 261।
3. भारत का विधि आयोग 77वीं रिपोर्ट, पृ० 69।
4. भारत का विधि आयोग, 54वीं रिपोर्ट, अध्याय 1, पैरा 1.5, पृ० 2।
5. यथोक्त, पैरा 1.6, पृ० 2।
6. निम्नतम स्तर से सिविल मुकदमेबाजी का कार्य करने का विस्तृत अनुभव रखने वाले न्यायाधीशों ने सिफारिशें करने में अपने अनुभव का प्रयोग किया और साम्राज्यिक अनुसंधान से सिविल प्रक्रिया संहिता म व्यापक संशोधनों की सिफारिश करने में उन्हें सहायता मिली। सुझाई गई सिफारिशें अधिकतर स्वीकार कर ली गई किन्तु उनके कार्यान्वयन के कारण परिणाम बहुत निरुत्साहक है जिनका पहले अनुमान नहीं लगाया जा सकता था। ब्यौरों के लिए विधि आयोग की रिपोट 14,27,54,77 और 79 तथा ज० सी० शाह समिति की सिफारिशें देख।

उस शक्तिशाली प्रभाव को जो न्याय प्रदाय प्रणाली का नागरिकों की एक बड़ी संख्या के ऊपर है विचार में लेना होगा जिससे उचित रूप से यह गुणग्रहण किया जा सके कि प्रणाली में सुधार न केवल वकील और न्यायाधीश के लिए अपितु राज्य और औसत नागरिक[1] के लिए भी अति महत्व का विषय है। इस प्रकार वर्णित प्राथमिकता को उलटना होगा और सत्य परख न्याय के उपभोक्ता नागरिक को लाभ और हानि होगी। इस झक्की प्रयोग का कठोर परिणाम से अरूचिकर होते हुए भी, नहीं बचा जा सकता क्योंकि सिविल प्रक्रिया संहिता के संरचनात्मक भाग को बिना परिवर्तन छोड़ने से और कई स्थानों पर छोटा-मोटा परिवर्तन करने से यह प्रणाली को सक्रिय, प्रभावी और महसूस की गई समय की आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायक नहीं होगा। इस प्रकार अपरिहार्य निष्कर्ष यह है कि विवादों के निपटारे के लिए प्रकार, ढंग और मंच में इससे पूर्व की प्रणाली अपने ही मलबे के नीचे दब कर रह जाए, मूल रूप से संरचनात्मक परिवर्तन अनिवार्य है।

1.7. समस्या को न्यायालय प्रबन्ध के दृष्टिकोण से ही देखना अविवेक होगा। अन्य शब्दों में मामलों की न्यायालयों की सदैव बढ़ती हुई सूचियों के पहलू से जांच करना बहुत अनुचित होगा। ऐसे प्रयास को भारत के संविधान में उद्घोषित अभिलाषाओं द्वारा मार्गदर्शित होना होगा। भारत के संविधान के अनुच्छेद 39क में यह निदेश है कि राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि विधिक तंत्र इस प्रकार काम करे कि समान अवसर के आधार पर न्याय सुलभ हो और वह, विशिष्टतया, यह सुनिश्चित करने के लिए कि आर्थिक या किसी अन्य निर्योग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाए, उपयुक्त विधान या स्कीम द्वारा या किसी अन्य रीति से निःशुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा। यह संवैधानिक आज्ञा है। आर्थिक और अन्य निर्योग्यताओं के आधार पर न्याय से इन्कार, संक्षेप में न्याय तक पहुंच के लिए समस्याजनक ज्ञात हुआ है। अब संविधान व्यवस्थित रीति से न्याय तक पहुंच में अड़चनों को हटाने का समादेश करता है। सरकार के सभी अभिकरण अब न्याय तक पहुंच को त्वरित करने को मूलभूत बाध्यता के अधीन हैं।

1.8. अनुच्छेद 39क द्वारा अनुध्यत न्याय तक पहुंच के दृष्टिकोण को कैसे विकसित किया जा सकता है? अभी तक प्रधान विचार न्यायालय प्रणाली पर भार को कम करने का रहा है और किसी नागरिक को आर्थिक या अन्य निर्योग्यताओं के कारण न्याय के वंचन से बचाने का इतना नहीं रहा है। अब अनुच्छेद का समादेश इन निर्योग्यताओं पर और उन्हें दूर करने के लिए स्कीमें विकसित करने पर ध्यान केन्द्रित करने का है। विवादों के निपटारे के लिए स्थानीय मंच सृजित करके न्यायालय प्रणाली पर भार कम करने का प्रबंधकीय विचार अब प्रधान नहीं हो सकता।

1.9. यदि विवाद की प्रकृति को उसके निपटारे के लिए मंच का स्वरूप और प्रक्रिया अवधारित करनी है तो यह अपरिहार्य है कि नगर न्यायालयों के समक्ष आने वाले प्रकृति के विवादों को विभिन्न शीर्षों के अधीन विभाजित किया जाए जिससे मोटे तौर पर स्वरूप निपटारे के लिए मंच की संरचना करने में और प्रक्रिया बनाने में सहायता करे। ग्रामीण क्षेत्रों में विवादों के निपटारे के लिए तंत्र बनाते समय सहभागी प्रणाली की सिफारिश की गई है। इस प्रणाली में विधिक रूप से प्रशिक्षित एक न्यायाधीश और ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करने वाले तथा ग्रामीण जनता की स्थानीय परंपरा, संस्कृति, पर्यावरण, आदतों और दृष्टिकोणों से परिचित दो अननुभवी न्यायाधीश प्रकल्पित हैं। यह इस विश्वास पर आधारित था कि विवादों के न्यायनिर्णयन के लिए विधि का ज्ञान पूर्व शर्त नहीं है। साधारण बुद्धिमता और ईमानदार तथा शुद्ध दृष्टिकोण विवाद का न्यायपूर्ण निपटारा इंगित करता है। कार्डोज़ का यह विचार कि "विधि का जीन छल नहीं अनुभव है" अर्थहीन नहीं है। यह कई बार दोहराया जाता है कि विधि शासन जीवन के नियम के अनुसार चलना चाहिए। ये अनुभव से प्राप्त आवश्यक सत्य है। वे इस निष्कर्ष का समर्थन करते हैं कि न्याय करने के लिए विधि का ज्ञान आवश्यक नहीं है। विश्व के कई देशों में न्यायिक निर्णय लेने में अननुभवी

1. भारत का विधि आयोग, 14वीं रिपोर्ट, अध्याय 3, पैरा 1, पृ० 17।

सहभागिता की व्यवस्था की है। विवादग्रस्त विवाद्यकों के निपटारे के लिए तब और वहां मध्यक्ता प्रणाली विकसित होती है जब और जहां विवाद में मध्यवर्ती पक्षकार की विनिश्चय को प्रवर्तित कराने में पर्याप्त प्रतिष्ठा और शक्ति है। विवाद के निपटारे में अननुभवी सहभागिता का ढंग और रीति किसी न किसी रूप में सदैव अस्तित्व में था। वर्तमान स्थिति से भारग्रस्त और ग्रामीण मुकदमेबाजी के लिए सिफारिश की गई प्रणाली पर बहुत अधिक निर्भर करते हुए विधि आयोग नगर क्षेत्रों में विवादों के निपटारे के लिए तंत्र के प्रतिरूप पर चर्चा आरंभ करना चाहता है।

अध्याय 2

2.1. भारत में मुकदमेबाजी मोटे तौर पर सिविल या दांडिक में विभाजित है। मुकदमेबाजी के संवैधानिक कर, श्रम आदि जैसे अन्य शीर्ष हैं जिनसे हम यहां इस तथ्य को देखते हुए संबंधित नहीं है कि मध्यम नगर स्तर पर इन शीर्षों के अधीन मुकदमेबाजी सिविल न्यायालयों के समक्ष नहीं आती है। सिविल अधिकार सिविल मुकदमेबाजी के माध्यम से, जिनके लिए सिविल न्यायालय स्थापित किए गए हैं, प्रवर्तित कराए जाते हैं। अपराध के लिए दांडिक न्यायालयों में अपराधों के विचारण द्वारा दंड दिया जाता है। सिविल प्रकृति के वाद सामान्यतया विषयवस्तु पर अधिकारिता रखने वाले मुंसिफ/सिविल न्यायाधीश की अधिकारिता के भीतर होते हैं जब तक कि धन संबंधी अधिकारिता के अधीन मामला वरिष्ठ-न्यायालय या किसी जिला न्यायाधीश की अधिकारिता के भीतर न आता हो या ऐसे मामलों में जहां सिविल न्यायालय की अधिकारिता अभिव्यक्त या विवक्षित रूप से किसी अधिनियमिति के अधीन वर्जित न कर दी गई हो। यह न्यायालय जिला न्यायाधीश के न्यायालय के अधीनस्थ होता है जो स्वयं राज्य न्यायपालिका[1] के शिखर पर उच्च न्यायालय के अधीनस्थ होता है।[1] भारत का उच्चतम न्यायालय उच्च न्यायालय के विनिश्चय पर अनुच्छेद 136 के अधीन अपील अधिकारिता का प्रयोग करता है।

2.2. इस प्रस्तावना पर कि विवाद की प्रकृति को उसके निपटारे के लिए मंच के स्वरूप और उस प्रक्रिया को अवधारित करना चाहिए जिसका अनुसरण करने से इसका निपटारा हो सकता है यह बात विचारणीय है कि क्या वर्तमान मंच जारी रखा जाना चाहिए या सिविल न्यायालयों द्वारा संज्ञेय और नगर क्षेत्रों में उद्भूत विवादों के संबंध में कार्यवाही करने के लिए कोई भिन्न मंच बनाया जा सकता है जिसमें मार्गदर्शक बात यही हो कि उससे आसान पहुंच योग्यता के साथ विवादों के निपटारे के लिए सस्ती, शीघ्र और प्रभावी रीति की व्यवस्था होगी।

2.3. सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 9 में यह उपबंध है कि न्यायालयों को उन वादों के सिवाय, जिनका उनके द्वारा संज्ञान अभिव्यक्त या विवक्षित रूप से वर्जित है, सिविल प्रकृति के सभी वादों के विचारण की अधिकारिता होगी। स्पष्टीकरण 1 में यह उपबंध है कि वह वाद जिसमें संपत्ति संबंधी या पद संबंधी अधिकार प्रतिवादित है, इस बात के होते हुए भी कि ऐसा अधिकार धार्मिक कृत्यों या कर्मों संबंधी प्रश्नों के विनिश्चय पर पूर्ण रूप से अवलंबित है, सिविल प्रकृति का वाद है। धारा 15 में यह उपबंध है कि हर वाद उस निम्नतम श्रेणी के न्यायालय में संस्थित किया जाएगा जो उसका विचारण करने के लिए सक्षम है। धारा 16 में यह उपबंध है कि उसमें अधिकथित प्रकृति के वाद उस न्यायालय में संस्थित किए जाएंगे जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर वह संपत्ति स्थित है। सभी ऐसे वादों का विचारण संहिता में विहित प्रक्रिया के अनुसार किया जाएगा। धारा 7 और 8 में प्रांतीय लघुवाद न्यायालय अधिनियम, 1887 और प्रेसिडेंसी लघुवाद न्यायालय अधिनियम, 1882 के अधीन गठित न्यायालयों को संहिता के कुछ उपबंधों से अपवर्जित करने का उपबंध है। विधि की स्कीम में यह उपबंध है कि निम्नतम श्रेणी का पीठासीन अधिकारी सिविल न्यायाधीश/मुन्सिफ होगा। जिला न्यायाधीश के अगले उच्चतर न्यायालय में पीठासीन अधिकारी जिला न्यायाधीश के रूप में पदाभिहित किया जाता है। इनके मध्य में अधीनस्थ न्यायालय, सिविल और सेशन न्यायाधीश के न्यायालय, सिविल न्यायाधीश (ज्येष्ठ खंड) के न्यायालय, सहायक न्यायाधीश के न्यायालय के रूप में अंतिम वर्णित न्यायाधीश संविधान के अनुच्छेद 236 में यथा अधिकथित "जिला न्यायाधीश" के अंतर्गत आता है, पदाभिहित न्यायालय हैं।

2.4. ग्रामीण मुकदमेबाजी के लिए सहभागी प्रणाली की सिफारिश करने वाली विधि आयोग की रिपोर्ट को ध्यान में रखते हुए विचार के लिए प्रश्न यह है कि क्या वह प्रणाली नगरीय मुकदमेबाजी के लिए उपयुक्त होगी। इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व नगर न्यायालयों में मुकदमेबाजी के वर्गीकरण को ध्यान में रखा जाए। मोटे तौर पर कथित करते हुए वे (1) धन संबंधी वाद, (2) किराए और बेदखली संबंधी मामले, (3) हक संबंधी वाद जैसे विक्रय को अपास्त करना, (4) बंधक पर वाद, (5) उत्तराधिकार और विरासत के संदर्भ में वाद, जिनके अंतर्गत बिलों पर आधारित वाद हैं, (6) अपकृत्य के लिए नुकसानी की वसूली

1. सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 की धारा 3।

के लिए बाद, (7) विवाह संबंधी मामले आदि हैं। विधि आयोग को दी गई जानकारी से प्रकट होता है कि किराया और बेदखली संबंधी वादों की संख्या अन्य प्रकृति की मुकदमेबाजी से बहुत अधिक है। सभी राज्यों ने मकान किराया और बेदखली अधिनियम अधिनियमित कर लिए हैं। उनके बीच कोई एकरूपता दृश्यमान नहीं है। हो सकता है कि वे स्थानी दशाओं के अनुरूप हों। किंतु कुछ राज्यों ने किराया अधिनियम[1] के अधीन मुकदमेबाजी के संबंध में कार्यवाही करने के लिए विशेष मंच स्थापित किए हैं। वहां भी जहां स्थानीय अधिनियम में स्थानीय किराया अधिनियम के अधीन वादों के विचारण के लिए विशेष मंच का उपबंध है अधिनियम के अधीन कार्यवाही की औसत अवधि तीन वर्ष से अधिक है और स्थिति दिन प्रतिदिन बिगड़ रही है। इसके अतिरिक्त भारी किराया लेने की अस्वास्थ्यकर प्रकृति से कब्जे संबंधी मामलों द्वारा अन्य महत्वपूर्ण मुकदमों को पीछे ढकेल देना देखने में आया है। विवाह संबंधी मामले सिविल न्यायालयों से तब ले लिए जा सकेंगे जब कुटुंब न्यायालय अधिनियम पूर्ण रूप से कार्यान्वित किए जाएंगे। अब कोई भी यह विवाद नहीं कर सकता कि प्रत्येक मुकदमे का निपटारा यथासंभव शीघ्र और युक्तियुक्त समय के भीतर किया जाना चाहिए। किसी दिन स्वयं न्यायपालिका को अपने आदेश का सामना करना पड़ेगा। उच्चतम न्यायपालिका ने यह विनिर्णय किया कि शक्ति के प्रदान के साथ उस प्रयोजन को, जिसके लिए यह प्रदत्त की गई है, युक्तियुक्त रूप से कार्यान्वित करने के लिए प्रयोग करने की बाध्यता है। न्यायालय ने कहा कि शक्ति के प्रयोग से इसका युक्तियुक्त समय के भीतर प्रयोग विवक्षित हैं। वास्तव में इस दृष्टिकोण से हाल ही में भूमि अर्जन अधिनियम का संशोधन करना आवश्यक हो गया क्योंकि इससे पहले धारा 4 के अधीन अधिसूचना के जारी करने के पश्चात् कई वर्ष बीत गए जिसके पश्चात् धारा 6 के अधीन अधिसूचना जारी की गई और इस सभी समय में कीमत स्थिर रही। जब न्यायालयों ने यह व्यवस्था दी कि भूमि का अर्जन करने की शक्ति का प्रयोग युक्तियुक्त रीति से किया जाना चाहिए जिससे इसका प्रयोग युक्तियुक्त समय के भीतर विवक्षित था तब उन्होंने धारा 4 के अधीन अधिसूचना के कई वर्ष पश्चात् जारी की गई धारा 6 के अधीन अधिसूचना को इस आधार पर विखंडित कर दिया कि शक्ति का प्रयोग युक्तियुक्त रीति से नहीं किया गया है। न्यायिक शक्ति राज्य की शक्ति है। न्यायालय संविधान द्वारा उनको प्रदत्त न्यायिक शक्ति का उपभोग करते हैं। यदि न्यायिक शक्ति भी शक्ति है तो वही आदेश लागू होना चाहिए। इसका कुरूप लक्षण यह है कि कोई अंत दृष्टिकोचर हुए बिना इसके प्रयोग में दशक बिता दिए जाते हैं। किसी दिए गए मामले में ऐसे अयुक्तियुक्त प्रयोग से अविधिमान्यकरण का एक अवलंब लिया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त वाद की प्रकृति कम से कम कुछ क्षेत्रों में उसके शीघ्र निपटारे के लिए विवश करती है अन्यथा उसके बाद के निपटारे का न तो कोई परिणाम होगा और न ही कोई लाभ। विवाद-विच्छेद के किसी वाद, दांपत्य अधिकारों के पुनःस्थापन के किसी वाद, भरण पोषण की किसी याचिका, बालकों की अभिरक्षा के लिए याचिका आदि में विलंब सहन नहीं किया जा सकता क्योंकि विलंब साम्य को असाध्य रूप से विफल कर देगा। इसी प्रकार अधिकतम किराया अधिनियमों में, जिन्होंने स्वेच्छा से पुनः प्रवेश करने की भू-स्वामी की शक्ति पर रोक लगाई है, उपबंध किया गया है कि यदि भू-स्वामी को अपने स्वयं के उपयोग के लिए परिसर की युक्तियुक्त रूप से और सद्भावपूर्वक आवश्यकता है तो किराएदार की बेदखली करवा सकता है। उपयोग की आवश्यकता तुरंत होनी चाहिए। यदि मुकदमा अनावश्यक तौर पर चलता रहता है तो किसी को भी आवश्यकता के बारे में संदेह हो सकता है या आवश्यकता समय के बीत जाने से समाप्त हो सकती है। एक ज्ञात मामले में निम्न आय वर्ग के एक कुटुंब ने अपनी आय में वृद्धि करने के लिए अपने कब्जे में तीन कमरों में से एक कमरा किसी किराएदार को 30 रु० प्रति मास की छोटी सी रकम के लिए किराए पर दिया। भू-स्वामी की एक पुत्री थी। विवाह के पश्चात् जब वह गर्भवती हुई तो वह रीति अनुसार अपने प्रसव के लिए अपने पिता के घर आना चाहती थी। तीसरे कमरे के कब्जे के लिए तुरंत आवश्यकता हो गई

1. (क) दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 :
धारा 35 और 37 जिनमें एक नियंत्रक और किराया नियंत्रण अधिकरण को अपील, एक मंच विहित करने की प्रक्रिया, संक्षिप्त वादों के विचारण की परिकल्पना है,

(ख) गोवा, दमन और दीव (पट्टा, किराया और बेदखली) नियंत्रण अधिनियम, 1960 धारा 41 और 44 जिन में नियंत्रण, किराया अधिकरण, अपील बोर्ड और अधिनियम के अधीन सभी जांचों, अपीलों और कार्यवाहियों की बाबत एक प्रशासनिक अधिकरण की परिकल्पना है,

(ग) उड़ीसा मकान किराया नियंत्रण अधिनियम, 1967 :
धारा 12, और

(घ) मुम्बई किराया, होटल और बासा दर नियंत्रण अधिनियम, 1947, जैसे वह गुजरात और महाराष्ट्र में लागू है। अधिनियम के अधीन मुकदमों का विचारण सिविल न्यायाधीश (कनिष्ठ खंड) द्वारा संक्षिप्त प्रक्रिया द्वारा किया जा सकता है।

क्योंकि भू-स्वामी के कब्जे में दो कमरों में से एक रसोई-सह-पूजा के कमरे के रूप में उपयोग किया जाता था और दूसरा माता और पिता के बैठने-सह-शयन कक्ष के रूप में उपयोग किया जाता था। इस आधार पर बेदखली के लिए वाद फाइल किया गया और जब उसके निपटारे का समय आया तो भू-स्वामी ने न्यायालय को सूचित किया कि उसकी पुत्री को तीन प्रसव हो चुके हैं और उसके पति ने, जो परिवार नियोजन में विश्वास करता है, शल्य चिकित्सा करा ली है। आवश्यकता समाप्त हो गई। विवादों के निपटारे के लिए रीति के मूल रूप से अन्यायपूर्ण होने का यह दृष्टांत है। ऐसे कई दृष्टांत हो सकते हैं। इसलिए विचार के लिए प्रश्न यह है कि नगरीय मुकदमेबाजी के लिए क्या मंच होना चाहिए। प्रश्न जो किए जा सकते हैं वे हैं : क्या सिविल न्यायालय का वर्तमान मंच वादों और मामलों के निपटारे में विलंब के लिए किसी प्रकार जिम्मेदार है? क्या इससे विश्वास उत्पन्न होता है? क्या कोई परिवर्तन आवश्यक है? यदि है तो परिवर्तन क्या होना चाहिए? क्या विधि आयोग द्वारा ग्रामीण मुकदमेबाजी के लिए बनाया गया मंच नगरीय मुकदमेबाजी से निपटने के लिए सहायक होगा? क्या नगर क्षेत्रों की अपेक्षाओं के लिए उपयुक्त होने के लिए किन्हीं उपांतरणों की अपेक्षा है? क्या प्रक्रिया बहुत विलंबकारी नहीं है? क्या साधारण विवादों के लिए जो जटिल नहीं है सिविल प्रक्रिया संहिता के अदृश कोई साधारण प्रक्रिया बनाना उचित होगा?

2.5. उन व्यक्तियों को, जिन्हें विधि आयोग के पूर्वतर कार्य पत्र तक और उसके पश्चात् उसकी रिपोर्ट तक पहुंच नहीं थी, संक्षेप में सूचित किया जाता है कि विधि आयोग ने ग्रामीण क्षेत्रों से उत्पन्न होने वाले विवादों के निपटारे के लिए "ग्राम न्यायालय" नाम से अभिहित मंच को स्थापित करने की सिफारिश की है। इसमें मुंसिफ/सिविल न्यायाधीश, जिसे पंचायती राज कहा जाएगा और जिसे प्रथम वर्ग न्यायिक मजिस्ट्रेट की शक्तियां होंगी और दो अननुभवी न्यायाधीश होंगे। इसका प्रयोजन सहभागी प्रणाली आरंभ करना है। न्याय प्रशासन में विश्वसनीयता को, जो इस समय बहुत सीमा तक समाप्त हो गई है, पुनःस्थापित करने के लिए जनता की सहभागिता के लिए उपबंध किया जाना चाहिए। प्रक्रिया साधारण होगी। क्या यह प्रणाली कुछ उपांतरणों के साथ, यदि कोई हो, नगरीय मुकदमेबाजी के लिए उपयुक्त होगी। आयोग सभी हितबद्ध व्यक्तियों से सुझाव आमंत्रित करता है कि क्या प्रस्तावित मंच, या उपांतरणों सहित, यदि कोई सुझाए जाएं, नगर क्षेत्रों में मुकदमेबाजी से निपटने के लिए उपयुक्त होगा। फिर भी यदि मंच में सुधार किया जाना है तो उसके पीछे न्याय प्रणाली को सहभागी बनाने का मूल सिद्धांत उसी या किसी अन्य रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

2.6. यह विचार बलशील हो रहा है कि राज्य किराया नियमों के अधीन मामलों में मुकदमे की सुनवाई दो न्यायाधीशों के पीठ द्वारा की जानी चाहिए और विनिश्चय अंतिम माना जाना चाहिए। इस निमित्त दो और सुझाव सुनाई देते हैं। मामले की सुनवाई या तो दो प्रशिक्षित न्यायाधीशों की पीठ द्वारा या तीन व्यक्तियों से मिलकर बने किसी मंच द्वारा अर्थात् विधि आयोग[1] की पूर्वतर रिपोर्ट में यथावर्णित राज्य के काडर से एक प्रशिक्षित न्यायाधीश और स्थानीय किरायादार संगम का एक प्रतिनिधि और स्थानीय भू-स्वामी संगम का एक प्रतिनिधि जिनका चयन अग्रिम रूप से तैयार किए गए पैनल में से किया जाएगा, की जानी चाहिए। साथ ही यह भी उपबंध किया गया कि न्यायालय को किसी भी कारण से स्थगन अनुदत्त करने की कोई शक्ति नहीं होगी।

2.7. निश्चित रूप से यह दोहराते हुए कि वह प्रक्रिया जो न्याय करने के लिए बनाई गई थी न्याय में बाधा बन गई है जब कोई वादी प्रक्रियात्मक संहिता में किसी उपबंध के उल्लंघन के लिए कोई मुकदमा हार जाता है तो वह प्रक्रिया की निन्दा करेगा। प्रक्रिया न्याय की बांदी है। यह प्रणाली की मालिक नहीं हो सकती। और फिर भी यह दुखद घटना उच्चतम न्यायालय में भी घटती है जब सिविल प्रक्रिया संहिता के किसी अभिकथित उल्लंघन के लिए जिससे दूसरे पक्ष को कोई हानि नहीं हुई है मामला खारिज कर दिया जाता है। इस बात का दृष्टांत देने के लिए एन० जयाराम रेड्डी बनाम आर० डी०[2] ओ० के प्रति अभिलाभपूर्वक निर्देश किया जा सकता है। न्यायालय ने निश्चयात्मक दृष्टिकोण अपनाया। अन्यथा आदेश 22, नियम 3 और 4 के तकनीकी उल्लंघन से उच्चतम न्यायालय के समक्ष

1. भारत का विधि आयोग, 114वीं रिपोर्ट।
2. (1979) 3 उच्चतम न्यायालय मामले 578।

अपीलार्थी 18 रुपए प्रति वर्ग गज के रूप में कीमत लेकर अन्यायपूर्ण ढंग से धनवान होने के लिए अनुज्ञात होते जो उच्च न्यायालय के अनुसार 4 रुपए प्रति वर्ग गज के हकदार थे। तथ्यों को यहां अधिकथित करने का प्रस्ताव नहीं है किंतु इतना कहना ही पर्याप्त है कि प्रक्रियात्मक दांवपेच से कई बार तात्त्विक अन्याय या न्याय की हत्या हो जाती है। इसलिए जब कोई नई प्रणाली बनाई जाती है तो उचित तौर से सरल प्रक्रिया के लिए उपबंध करना बराबर आवश्यक है जिसमें नैसर्गिक न्याय के न्यूनतम मूल सिद्धांत निसंदेह निहित होने चाहिए जैसे (1) किसी व्यक्ति को बिना सुनवाई दोषी नहीं ठहराया जाएगा, और (2) कोई भी व्यक्ति अपने मामले का स्वयं निर्णायक नहीं हो सकता। ऐसी सरल प्रक्रिया बनाई जा सकती है। चर्चा में यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि एक ओर वह असम्यक् रूप से जटिल नहीं है और दूसरी ओर इसे न्याय करने में सहायक होना चाहिए ।

2.8. अधिवक्ताओं का न्यायालय के अधिकारियों के रूप में वर्णित और ठीक ही माना जाता है। इसलिए उनकी न्यायालय और मुवक्किल दोनों के प्रति दोहरी निष्ठा होती है। अब तीसरा आयाम अर्थात् समाज के प्रति उनकी जिम्मेदारी जोड़ने का समय आ गया है। न्याय तक पहुंच को बिना अड़चन और शीघ्र बनाए रखने के लिए जैसा संविधान के अनुच्छेद 39क में परिकल्पित है उनकी सक्रीय सहायता और सहभागिता के साथ उन्हें न्यायालय के प्रति जिम्मेदारी का तीसरा आयाम अनुज्ञात करना चाहिए। प्रथम-दृष्ट्या आयोग का यह विचार है कि जहां कोई अर्जेंट अनुतोष आवश्यक है उसके सिवाए किसी भी मुकदमे में उस व्यक्ति के निमित्त जो किसी अन्य व्यक्ति के विरुद्ध किसी अधिकार का दावा करता है मांग की सूचना जारी की जानी चाहिए। सूचना में उस प्रक्रम की कल्पना की गई हो जिस पर यदि अन्य पक्ष युक्तियुक्त रूप से और तत्परतापूर्वक करता है तो मुकदमेंबाजी से बचा जा सकता है। यह रिट अधिकारिता का आलंबन लेने के पूर्व न्याय की मांग की प्रकार की है। सूचना देने की प्रक्रिया के पीछे यही तात्पर्य है। इसे अब कुछ प्रभावी परिणाम प्राप्त करने के लिए उपयोग में लाना चाहिए जिससे विवाद के क्षेत्र को कम करने के साथ मुकदमेंबाजी से बचना भी प्रोत्साहित होगा। इसलिए यह बाध्यकर बना देना चाहिए कि जहां अर्जेंट एकपक्षीय अनुतोष आवश्यक है वहां के सिवाय, सूचना जारी करने वाले वकील को दूसरे पक्ष से अपना वकील नामनिर्देशित करने की अपेक्षा करनी चाहिए। यह बाध्यकर होना चाहिए। जैसे ही दूसरा पक्ष अपने वकील को नामनिर्देशित करता है और सूचना का उत्तर देता है दोनों वकीलों के लिए पंद्रह दिन की अवधि के भीतर, जिसके भीतर कोई कार्रवाई आरंभ नहीं की जा सकती, आपस में मिलना कानूनी तौर पर बाध्यकर बना दिया जाना चाहिए। बैठक में साक्ष्य का विनिमय होना चाहिए और यह देखने का प्रयास होना चाहिए कि क्या लेने देने के उचित दृष्टिकोण से युक्तियुक्त निपटारा संभव है। बैठक के कार्य वृत्त रखने चाहिए। यदि संपूर्ण विवाद का निपटारा नहीं किया जाता है तो आंशिक सहमति यदि कोई हो, तो वह भी अभिलिखित कर लेनी चाहिए। इस प्रक्रम पर विवाद का निपटारा करने में असफलता हर मुकदमेंबाजी आरंभ करने की अनुज्ञा हो किंतु वादपत्र में यह प्रक्कथन होना चाहिए कि ऐसा प्रयास किया गया है और उस प्रयास को साक्ष्यित करने वाले दस्तावेजों का वादपत्र के साथ प्रकटीकरण करना चाहिए। समन की तामील पर दूसरे पक्ष के उपस्थित होने पर न्यायालय को दोनों पक्षकारों से पूछना चाहिए कि आरंभिक सुलह के प्रयास पर न निपटाए गए विवाद का क्षेत्र क्या है। यदि संभव हो तो आगे मुकदमेबाजी के बिना न्यायालय को सुलह करानी चाहिए और विवाद को निपटाने का प्रयास करना चाहिए। यदि इसमें असफलता होती है और अंततः विचारण की कार्यवाही चलती है तो न्यायालय के लिए यह बाध्यकर है कि वह विनिश्चय करे कि कौन सा पक्षकार अन्यायपूर्ण रूप से अड़ियल था जिसमें मुकदमा पूर्व सुलह में और मुकदमे के प्रथम प्रक्रम में अपनाया गया रूख भी कथित हो तथा भारी खर्चा जिसमें न्यायालय की स्थापना के व्यय सम्मिलित हों, अधिनिर्णीत करना चाहिए।

2.9. एकपक्षीय व्यादेश, अधिकतर प्रतिषेधात्मक और कभी-कभी आज्ञापक, प्राप्त कर लेना साधारण सी बात हो गई है। प्रयास दूसरे पक्ष पर विजय प्राप्त करने और उसे विस्मय में डालना होता है। कभी-कभी सूचना देने से बचने की दृष्टि से यह अप्रमाणित अभिकथन किया जाता है कि एकपक्षीय अंतरिम अनुतोष मिलना चाहिए। एकपक्षीय अंतरिम व्यादेश देने की न्यायालय की शक्ति समाप्त कर दी जानी चाहिए। नगरपालिका या कोई राज्य उद्यम संविधान के अनुच्छेद 12 द्वारा शासित कोई उपक्रम समय की तामील के पश्चात् विनिश्चय को रोकने के लिए कार्य नहीं करेगा। प्रतिवादी को, यदि वह प्राइवेट पक्षकार है तो यह सूचित किया जा सकेगा कि यदि न्यायालय के विनिश्चय को रोकने के लिए कोई कदम उठाया गया उसके भारी सिविल और दांडिक परिणाम होंगे। इस पर भी यदि भारी आत्यिकता का मामला बना लिया जाता है तो न्यायालय केवल एक सप्ताह की अवधि के लिए एकपक्षीय अंतरिम व्यादेश अनुदत्त करने के लिए कानूनी उपबंध द्वारा विधिता हकदार होगा। आदेश अभिप्राप्त करने वाले पक्षकार को दूसरे पक्ष पर

कागजपत्रों की तामील, यदि वह उसी नगर में है तो उसी दिन और यदि वह 15 किलोमीटर से अधिक दूरी पर है तो दो दिन के भीतर करनी चाहिए। दूसरे पक्षकार को उपस्थित होना चाहिए और दोनों पक्षों की सुनवाई करने के पश्चात् न्यायालय को यह विनिश्चय करना चाहिए कि क्या व्यादेश चालू रहना चाहिए या पुष्ट कर दिया जाना चाहिए। यह सर्वत्र स्वीकृत दुखद अनुभव है कि एक बार व्यादेश अभिप्राप्त कर लेने पर वह पक्षकार मामले को चलाने में अनिच्छुक होता है। इसको कड़ाई से दबाना चाहिए।

2.10. वह दुरुपयोग जो सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 का किया जाता है सुख्यात है। इसलिए समय है कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 को कानूनी पुस्तक से बिना संकोच हटा दिया जाए। संविधान का अनुच्छेद 227 अधीनस्थ न्यायालयों पर प्रशासनिक अधीक्षण न कि न्यायिक अधीक्षण तक सीमित कर दिया जाना चाहिए। इससे मुकदमेबाजी को लंबा करने की प्रवृत्ति पर रोक लगेगी और उच्च न्यायालय समय का अपव्यय करने की पीड़ा से बच जाएगा। वास्तव में कई ऐसे मामले हैं जिनमें धारा 115 के अधीन उच्च न्यायालय की अधिकारिता के क्षेत्र पर लम्बे व्याख्यान के पश्चात् मामला इसलिए खारिज कर दिया जाता है कि वह उसकी अधिकारिता में नहीं आता है। इस अनुत्पादक प्रयोग को समाप्त करने का समय आ गया है। इसलिए यह बात विचार के लिए है कि क्या सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 को हटा दिया जाए।

2.11. यह एक अप्रतिवादित तथ्य है कि वर्तमान सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21 (निष्पादन) का उच्च न्यायालयों द्वारा वकीलों के स्वर्ग के रूप में तथा सफल वादी की सभी प्रकार से यातना के आरंभिक बिंदु के रूप में वर्णन किया गया है। इस घातक परिणाम से बचने के लिए न्यायालय के विनिश्चय का तुरंत निष्पादन किया जाना चाहिए जिससे न्याय प्रभावी रूप से हो सके।

2.12. न्याय के किसी उपभोक्ता का वकीलों या अधिवक्ताओं की अनुपलब्धता की बाबत किसी कठिनाई को कम करने की दृष्टि से राज्यों और संघ राज्यक्षेत्रों के लिए प्रस्तावित विधिक सेवा आयोग जो राष्ट्रीय विधिक सेवा अधिनियम के अधीन स्थापित किया जाए या ऐसे निकाय के गठन तक केंद्रीय भारतीय विधि सहायता सोसायटी या समरूप निकाय को प्रत्येक प्रस्तावित मंच से संबद्ध करने के लिए दो वकील समुनुदेशित करने चाहिए जिनकी सेवाएं दोनों पक्षकारों को, यदि वह ऐसी वांछा करे, आसानी से उपलब्ध होनी चाहिए। ये वकील पक्षकारों के असर से मुक्त होने चाहिए और विवादों के निपटारे में न्यायालय के अधिकारियों के रूप में सहायता करेंगे। क्योंकि वह न्यायालय से सम्बद्ध होंगे इसलिए उनकी सुविधा के कारण किसी वाद के स्थगन का कोई प्रश्न नहीं होगा। किंतु पक्षकारों को प्रस्तावित मंच के समक्ष कार्यवाहियों में अपनी पसंद के वकीलों की मार्फत उपस्थित होने की अनुज्ञा होगी।

आयोग इस विषय पर जनता के विचार आमंत्रित करता है।

2.13. यह पत्र सिविल प्रक्रिया संहिता की विस्तृत जांच से मुख्य रूप से संबंधित नहीं है। वास्तव में यह पत्र नगर क्षेत्रों में विवादों के निपटारे के लिए तंत्र की प्रणाली के संबंध में है। कार्य पत्र में कुछ प्रणालियों का सुझाव दिया गया है। किसी बिलकुल विभिन्न प्रणाली के लिए सुझाव देने की छूट है और आयोग उसकी जांच करने के लिए रजामंद होगा। प्रक्रिया के मामले में भी सुझावों का स्वागत है।

उपाबंध 2

कार्यशालाएं

सहभागी

पुरी—7 और 8 फरवरी, 1987

1. न्यायमूर्ति बी० पी० बनर्जी, कलकत्ता उच्च न्यायालय
2. न्यायमूर्ति एम० जी मुखर्जी, कलकत्ता उच्च न्यायालय
3. कुमारी मांडीव डे, सामाजिक-विधिक केन्द्र, कलकत्ता
4. श्री आर० एन० पटनायक, अधिवक्ता, पुरी
5. श्री डी० दास अधिवक्ता, पुरी
6. कन्हैया लाल रथ, समाजिक-विधिक केन्द्र, ट्वेनलिया
7. आचार्य पी० के० बाबू, संकायाध्यक्ष, विधि संकाय, सम्बलपुर विश्वविद्यालय
8. आचार्य एच० एन० प्रधान, प्राध्यापक, एल० आर० महाविद्यालय, सम्बलपुर विश्वविद्यालय
9. श्री नरेन्द्र कुमार खमटिया, अधिवक्ता, उड़ीसा
10. श्री सच्चिदानंद मोहंती, अधिवक्ता, उड़ीसा
11. श्री बी० तेवारी अधिवक्ता, दातारगंज, पालमऊ, बिहार
12. श्री वरुण सेनगुप्त, अधिवक्ता, अखिल भारतीय रिपोर्टर संवाददाता
13. श्री वी० केशवराव, प्राध्यापक, विधि विभाग, वाल्टेयर विश्वविद्यालय
14. श्री ज्योतिषचक्र, अधिवक्ता, पुरी
15. श्री पी० चन्द्र, अधिवक्ता, पुरी
16. श्री एन० के० मोहन्ती, अधिवक्ता, पुरी
17. श्री माधवप्रसाद मिस्नी, अधिवक्ता, पुरी
18. श्री कुमार शुक्ल, प्रतिनिधि, पी० टी० आई०, पुरी।
19. श्री एन० सारंगी, युवा और एकीकृत विकास केन्द्र, पुरी
20. श्री सच्चिदानंद मिश्र, उपखंड अधिकारी (विद्युत), पुरी
21. श्री के० प्रसाद, पुरी
22. श्री एम० के नायक, घुमसार महिला संगठन, गुड़ियागिरि, जिला फुलवाड़ी
23. श्री शशि भूषण लाल, अधिवक्ता, हजारीबाग, बिहार
24. श्री गिरिजा शंकर जायसवाल, जमशेदपुर
25. श्री वीणा सेठ, अधिवक्ता, परियोजना निदेशक, निःशुल्क विधिक सहायता समिति, हजारी बाग, बिहार
26. श्रीमती रीणी भट्टाचार्य, भुवनेश्वर

27. श्री तुषार भट्टाचार्य, भुवनेश्वर
28. श्री डी० पी० गांगुली, प्रेस फोटो ग्राफर
29. श्री अंतरनमामी, एस० ई० एस० ओ०
30. श्री ए० के० नायक
31. श्री एस० मोहंती, आर० पी० लाइन्स पुरी
32. श्री एच० एल० इन्द्र, गांधी संस्थान बिहार
33. श्री टी० आर० पालकसिंह, तालचर पर्यावरण सोसाइटी, तालचर
34. श्री एन० सुलजाथी, अधिवक्ता, पुरी
35. श्री आर० नाथ प्रधान, अधिवक्ता, पुरी
36. श्री एस० मंडल
37. महामहिम राज्यपाल उड़ीसा (श्री बी० एन० पांडेय)
38. डा० एस० एन० रथ, अधिवक्ता
39. श्रीमती माला बनर्जी, अवैतनिक सचिव, सी० ए० एफ०
40. श्री एस० के० बोस सामाजिक-विधिक सहायता अनुसंधान और प्रशिक्षण केन्द्र, कलकत्ता
41. श्री रूसी बी० जिमी, सामाजिक-विधिक सहायता अनुसंधान और प्रशिक्षण केन्द्र, कलकत्ता
42. श्री मनेन्द्र मंडल
43. श्री नित्यानंद सतपति, अधिवक्ता, पुरी
44. श्री एम० डे०, एस० एल० ए० आर० टी० सी०, कलकत्ता
45. श्री शंकर चक्रवर्ती, एस० एल० सी० मिदनापुर, पश्चिमी बंगाल
46. श्री के० एल० इन्दु० चनपति, बिहार।
47. श्री संजीव बसु, अधिवक्ता, कलकत्ता
48. श्री आर० के हल्दर० एस० एल० ए० आर० टी० सी०, कलकत्ता
49. श्री प्रतापचन्द मोहंती, संवाददाता, इंडियन एक्सप्रेस, पुरी
50. श्री प्रबल च० मोहंती, संवाददाता, अमृतबाजार पत्रिका, पुरी

शिलांग—21 और 22 फरवरी, 1987

1. न्यायमूर्ति के० एन० साइकिया
2. न्यायमूर्ति एस० हक० गोवाहाटी उच्च न्यायालय
3. न्यायमूर्ति बी० के० मनीसाना सिंह, गुवाहाटी उच्च न्यायालय
4. न्यायमूर्ति संगमा
5. न्यायमूर्ति नाग
6. श्री बी० पी० चटर्जी, कलकत्ता
7. च० नरेन्द्र सिंह, प्राध्यापक, एल० एम० एस०, विधि क्लब इम्फाल
8. श्री ओ० गोपाल, मणिपुर
9. श्री एन० स्वीयत, इम्फाल
10. श्री आई० एल० कुमार, इम्फाल
11. श्री आई० जे० सिंह, मणिपुर
12. श्री बी० के० जिंदल, शिलांग न्यायालय
13. श्री एच० नांशरम, शिलांग
14. श्री एल० जयरवा, विधि विभाग, मेघालय, शिलांग
15. श्री डी० आर० रयामी, विधि विभाग, मेघालय, शिलांग
16. कुमारी जे० भुज, अधिवक्ता, ओकलैंड, शिलांग
17. श्री बी० एन० डी०, अधिवक्ता, शिलांग
18. श्री डी० ई० दाउदी, कलकत्ता
19. श्री पीलू नाहिर
20. श्री एस० सरतचन्द्र, इम्फाल
21. श्री आर० के० आनन्द, इम्फाल
22. श्री के० एस० किंजीना, अधिवक्ता, शिलांग विविध संगम
23. श्री जे० सोहत्वा, अधिकारी, विधि विभाग, मेघालय सरकार
24. श्री रणजीत केर, मार्फत शिलांग विधिज्ञ संगम
25. श्री एच० स्पीड, अपर अधीक्षक पुलिस, अ० अ० वि०, शिलांग
26. श्री ओ० एस० अजर, अधिवक्ता, शिलांग
27. श्री यू० ए० डिंगडाब, अधिवक्ता, पोलो हिल, शिलांग
28. श्री आई० मनलांग, मेघालय सिविल सचिवालय, विधि विभाग, शिलांग
29. श्री गोपाल कृष्ण रे
30. श्री एस० के० बसु

31. श्री ए० के० संगमा, एम० टी० डी० सी०, शिलांग
32. श्री एस० एस० सालोय
33. श्रीमती एस० मिमी सोएस एम० टी० डी० सी० शिलांग
34. श्रीमती कुबलयू मांइलियमेगेप, एम ० टी० डी० सी०, शिलांग
35. श्री पी० सी० दास, अधिवक्ता
36. श्री एम मेहदी वार्जू, अधिवक्ता
37. श्री रोसी बी जिमी
38. श्री सुधीर कुमार बोस
39. श्री एम० मंडल
40. श्री बी० डी० जी० अधिवक्ता, शिलांग
41. श्री पी० के० चक्रवर्ती, उत्तर बंगाल विश्वविद्यालय
42. श्री एन० आर० डाइगडोह, ए० आई० आर० शिलांग
43. श्री० ए० हुसैन, प्रधानाचार्य, यू० एल० सी० गुवाहाटी विश्वविद्यालय
44. श्री जे० पी० बोरा, प्राध्यापक, जे० एल० सी० गुवाहाटी विश्वविद्यालय
45. श्री पी० सी० विस्वास, अधिवक्ता
46. श्री एस० चक्रवर्ती
47. श्री हलदर
48. श्री बी० के सागर
49. श्री जी० प्रधान
50. श्री प्रभात चक्रवर्ती, उत्तर बंगाल विश्वविद्यालय
51. श्री भूपेन्द्र नाथ ठाकुरिया
52. श्री हसीबुद्दीन अहमद
53. श्री जुगेश्वर सिंह
54. श्री आलिबा जामीर
55. श्रीमती एम० शर्मा, अधिवक्ता
56. श्री जै० एन० बारी

दिल्ली—21 और 22 मार्च, 1987

1. न्यायमूर्ति ए० एन० सेन
2. न्यायमूर्ति राजेन्द्र सच्चर
3. न्यायमूर्ति डी० के० कपूर
4. न्यायमूर्ति एस० बी० वाड
5. डा० जे० एस० गांधी, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
6. श्री एम० जेड खान, जामिया मिलिया विश्वविद्यालय
7. कुमारी ममता सहगल, न्यायाधीश, मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण
8. श्री डी० सी० मिश्र
9. श्रीमती एलाइस जेकब, भा० वि० सं०
10. आचार्य जे० के० मित्तल, भा० वि० सं०
11. श्री कृष्ण महाजन, हिन्दुस्तान टाइम्स
12. श्रीमती के० हिंगोरानी, अधिवक्ता
13. आचार्य के० एस० शुक्ल
14. आचार्य बी० बी० पाण्डेय
15. श्री आर० के० शर्मा, स० आ० पु०
16. श्री कृष्णकुमार, अधिवक्ता
17. श्री अमर सिंह
18. श्री नरेन्द्र कुमार
19. श्री रणबीर सिंह
20. आचार्य एन० आर० माधव मेनोन, विधि विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
21. श्री सी० आर० रामनाथन, निदेशक, आई० आई० पी० ए०
22. श्री० बी० एन० सिंह
23. श्रीमती शेखर सिंह
24. श्री मेहरा, रोहतक विश्वविद्यालय
25. श्री० पी० सी० जुनेजा, रोहतक विश्वविद्यालय
26. डा० रघुवीर सिंह, रोहतक विश्वविद्यालय
27. श्री के० एल० शर्मा, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
28. श्री के० पी० सिंह
29. श्री हरबंस पाठक, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला
30. आचार्य, वी० के० गुप्त, विधि संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय
31. श्री जवाहर कौल, रोहतक विश्वविद्यालय
32. डा० छत्रपति सिंह, भारतीय विधि संस्थान
33. श्री पी० सी० जुनेजा
34. श्री दत्त, आई० आई० पी० ए०

मुम्बई—29 और 30 मार्च, 1987

1. मुख्य न्यायमूर्ति एम० एच० कानिया, उच्च न्यायालय मुम्बई
2. न्यायमूर्ति एस० के० देसाई, उच्च न्यायालय, मुम्बई
3. न्यायमूर्ति एस० सी० प्रताप, उच्च न्यायालय, मुम्बई
4. न्यायमूर्ति एच० सुरेश, उच्च न्यायालय, मुम्बई
5. न्यायमूर्ति एच० एच० कन्थरिया, उच्च न्यायालय, मुम्बई
6. न्यायमूर्ति एम० एम० काजी, उच्च न्यायालय, मुम्बई
7. न्यायमूर्ति पी० बी० सावंत, उच्च न्यायालय, मुम्बई
8. न्यायमूर्ति जी० सी० लोनी, उच्च न्यायालय, मुम्बई
9. कु० न्यायमूर्ति सुजाता मनोहर, उच्च न्यायालय, मुम्बई
10. श्री एम० एस० रान, न्यायाधीश, मुम्बई
11. श्री एम० जी० चौधरी, न्यायाधीश, मुम्बई
12. श्री एस० ए० कीर्तिकर, न्यायाधीश, मुम्बई
13. श्री एस० सी० थूबे, न्यायाधीश, मुम्बई
14. श्री पी० एस० भूतिया, न्यायाधीश, मुम्बई
15. श्री ए० सी० वेल्कर, मुख्य महानगर मजिस्ट्रेट, मुम्बई
16. श्री० जी० वी० कालिकर, अपर मु० न्यायाधीश नगर सिविल न्यायालय, मुम्बई
17. श्री ए० ए० काजी, न्यायाधीश, नगर सिविल न्यायालय, मुम्बई
18. श्री एम० जे० बोर्डेज, न्यायाधीश, लघुवाद न्यायालय, मुम्बई
19. श्री एच० एच० जे० कीर्तिकर, न्यायाधीश, मुम्बई
20. श्रीमती के० टी० के० बाम
21. श्री० बी० एन० सिंघवी, अधिवक्ता
22. श्री वी० आर० सूत्रालय, अधिवक्ता
23. श्री के० के० सिंघवी, ज्येष्ठ अधिवक्ता
24. श्री वी० के० कुलकर्णी, अधिवक्ता
25. श्री डी० बी० मेन, अधिवक्ता
26. श्री टी० गोडीवाला, अधिवक्ता
27. श्री डी० आर० धनुका, अधिवक्ता
28. श्री एम० वी० घोडकोवार, अधिवक्ता
29. श्री सी० के गुप्त, अधिवक्ता
30. श्री वी० के० अमन, अधिवक्ता
31. श्री के० एस० वी० मूर्ति, अधिवक्ता
32. श्री ए० आर० कुदरोली, अधिवक्ता
33. श्री एस० ए० नीमचवाला, अधिवक्ता
34. श्री ए० मजीद मेनोन, अधिवक्ता
35. श्री एस० बी० बोडे, अधिवक्ता
36. श्री डी० एस० पारेख, अधिवक्ता

37. श्री रमेश अग्रवाल, अधिवक्ता
38. कु० गीता गणपति, अधिवक्ता
39. श्री आर० जे० कोछड, अधिवक्ता
40. श्री एल० आर० चारी, अधिवक्ता
41. श्री एस० टी० तिजोरीवाला, अधिवक्ता
42. श्री पी० के० पंडित, अधिवक्ता
43. श्रीमती पुष्पा सिंधवी, अधिवक्ता
44. श्री सूरज एम शाह, अधिवक्ता
45. श्री सी० जे० सावंत, अधिवक्ता
46. श्री आर० एस० कुलकर्णी, अधिवक्ता
47. श्री डी० आर० शुक्ल, अधिवक्ता
48. श्री बी० एम० यादव, अधिवक्ता
49. श्री आर० ए० दादा, अधिवक्ता
50. श्री महावेदेशरण, अधिवक्ता
51. श्री डी० एस० सोमन, पुलिस आयुक्त, महामुम्बई
52. श्री मिलिंड साठे
53. कु० सरोज त्रिपाठी
54. श्री अबू बशर खान
55. श्री देवेन्द्र शर्मा
56. श्री एस० जे० जादव
57. श्री रफीक अहमद शेरा
58. स्मिता दीवान
59. श्री एम० आर० शुक्ल
60. कु० सरला सेठ
61. श्री एन० डी० पतंकर
62. मीन डब्ल्यू० देसाई
63. भीमो नायक
64. थैनजाशील पाटिल
65. श्री पी० शंकर नारायण
66. श्री एम० एस० चौधरी
67. श्री आर० जे० पुरेन्द्र
68. श्री जे० एफ० रईस
69. श्री ए० बी० खान
70. श्री एन० एम० अमीन

शिमला—6 और 7 जून, 1987

1. न्यायमूर्ति पी० डी० देसाई, मुख्य न्यायमूर्ति, हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय, शिमला
2. न्यायमूर्ति टी० बी० आर० तातााचारी (सेवानिवृत्त) लोक आयुक्त, हिमाचल प्रदेश, शिमला
3. न्यायमूर्ति बी० पी० भटनागर, हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय, शिमला
4. न्यायमूर्ति बी० पी० गुप्त, हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय, शिमला
5. श्री सुरजीत सिंह, अपर जिला और सेशन न्यायाधीश, शिमला
6. श्री एम० एस० आहूजा, जिला और सेशन न्यायाधीश
7. आचार्य मुहम्मद गौस, एस० के० विश्वविद्यालय, अनंतपुर, आंध्र प्रदेश
8. आचार्य एम० पी० सिंह, दिल्ली विश्वविद्यालय
9. आचार्य वीरेन्द्र कुमार, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़
10. श्री जे० एस० पांडेय, सिविल न्यायाधीश, फैजाबाद, उत्तर प्रदेश
11. श्री बलराम के० गुप्त, पंजाब विश्वविद्यालय, चंड़ीगढ़
12. डा० रमेश चन्द्र, आचार्य और विभागाध्यक्ष, विधि विभाग, एन० डी० विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
13. आचार्य के० सी० मल्होत्रा, कुलपति, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला
14. डा० आर० कोटेश्वर राव, संकायाध्यक्ष, एस० वी० विश्वविद्यालय, तिरुपति, आंध्र प्रदेश
15. आचार्य सी० जी० राघवन, आचार्य और विभागाध्यक्ष, विधि विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर
16. आचार्य एस० आर० भंसाली, आचार्य और संकायाध्यक्ष, विधि संकाय, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान) ।
17. आचार्य आर० सी० ब्याज संकायाध्यक्ष, विधि संकाय, लखनऊ विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश
18. डा० लोकेश कौल, आचार्य और विभागाध्यक्ष, हिमाचल विश्वविद्यालय, शिमला ।
19. श्री एन० सी० जोशी, एस० पी० लोकायुक्त, शिमला
20. श्री बी० एस० पठानिया, अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला
21. श्री सी० एल० आनन्द, विधि विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला
22. श्री सुरेश कपूर, प्राध्यापक, विधि विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला
23. श्री नरेन्द्र कुमार, प्राध्यापक, विधि विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला
24. श्री सी० पी० चौहान, विधि विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

25. श्री आर० एल० रघू, उप-रजिस्ट्रार, हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय, शिमला

26. डा० बी० आर० शर्मा, उपाचार्य, विधि विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

27. श्री सुरेन्द्र प्रकाश, रजिस्ट्रार (सतर्कता) हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय, शिमला

28. श्री आर० एल० खुराना, रजिस्ट्रार, हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय, शिमला

29. श्री ए० आर० चौहान, कुल सचिव, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

30. श्रीमती अरुणा कपूर, सी० जे० एम० शिमला

31. आचार्य आई० पी० मैसी, संकायाध्यक्ष, विधि संकाय, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

32. आचार्य सूर्य० पी० शर्मा, संकायाध्यक्ष, विधि संकाय, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

33. डा० सतीश चन्द्र, उपाचार्य, विधि संकाय, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

34. डा० अमर सिंह, विधि विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

35. श्री दीवा सिंह कौशल, अधिवक्ता, शिमला

36. श्री सुधीर कुमार, विधि छात्र हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

37. श्री सुनील चौहान, छात्र, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

38. श्री राकेश सूद, जालंधर दूरदर्शन केन्द्र

39. श्री बलबीर चंद, एल० एल० एम० छात्र, शिमला

40. श्री पदमनाथ नाग, अधिवक्ता, हिमाचल प्रदेश, शिमला

41. श्री एन० सी० जोशी, लोकायुक्त अधिकारी, शिमला

42. श्री आर० के० कौशल

उपाबंध 3

निम्नलिखित के समक्ष 1980 से 1985 तक किराया और कब्जा संबंधी लंबित मामले दर्शित करने वाले आंकड़े ।

राज्य	निम्नतम मंच	अपील मंच	कुल
1. आंध्र प्रदेश	10185	1524	11709
2. असम, 14 जिले	–	–	819
3. मुम्बई, 27 जिले पणजी, औरंगाबाद आदी में न्यायपीठ है ।	72522	6259	78781
4. कलकत्ता	38076	1110	39186
5. जोधपुर जयपुर न्यायपीठ और उसके अधीनस्थ न्यायालय 29 जिले	–	–	149693
6. हिमाचल प्रदेश	985	249	1234
7. कर्नाटक	19961	3568	23529
8. केरल	4485	3981	8466
9. मणिपुर	–	–	1
10. मेघालय	–	–	1
11. उड़ीसा	233	146	379
12. पंजाब, 13 जिले	14758	2584	17342
चंडीगढ़ और हरियाणा 14 जिले	9291	1359	10650
13. सिक्किम	1	5	6
14. तमिलनाडु	13093	1672	14765
15. त्रिपुरा	–	–	55
16. उत्तर प्रदेश, 22 जिले	13084	4435	17619

उपाबंध 4

निम्नलिखित के समक्ष 1980 से 1985 तक किराया और कब्जा संबंधी मामलों के निपटारे की औसत अवधि।

राज्य	निम्नतम मंच दिनों में	अपील मंच दिनों में
1. आंध्र प्रदेश	593.52	370.73
2. असम 14 जिले	819	
3. मुम्बई	1359.9	943.08
27 जिले पणजी और औरंगाबाद में न्यायपीठ		
4. कलकत्ता	अंतर 287 से 5950 दिन का है	अंतर 197से 2355 दिन का है
5. हिमाचल प्रदेश	477.79	378
6. कर्नाटक	589.64	689.72
7. केरल	456	523
8. उड़ीसा	415.7	266
9. पंजाब, 13 जिले	737.81	841.20
चंडीगढ़ और हरियाणा 14 जिले	363	363
10. सिक्किम	243.3	439.16
11. तमिलनाडू	214	169.8
12. त्रिपुरा	407	
13. उत्तर प्रदेश 22 जिले	411	356

उपाबंध 5

हिमाचल प्रदेश में अधीनस्थ न्यायालयों में विचारण पूर्व, विचारण में और विचारण पश्चात् सुलह परियोजना

स्कीम का उद्देश्य, प्रयोजन और पृष्ठभूमि

मुख्य चुनौती जिसका सामना हमारे देश में न्यायपालिका को करना है वह न्यायालयों में विभिन्न स्तरों पर लंबित मामलों की बहुत बड़ी बकाया है। विरोधी पद्धति, प्रक्रिया संबंधी झगड़े और अपीलों पुनरीक्षणों की बहुतायत कुछ ऐसे कारण हैं जो किसी वादी को न्याय के लिए कई वर्षों तक प्रतीक्षा करते रहने के कारण कड़ुआ और निराश व्यक्ति बना देते हैं। इस समस्या का समाधान करने की दृष्टि से हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय में अनुभव-प्रयोग के आधार पर राज्य में विचारणपूर्व, विचारण में और विचारण पश्चात् सुलह परियोजना बनाई हैं।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 27 के नियम 5ख और आदेश 32क के नियम 3 में (1976 के अधिनियम सं० 104 द्वारा यथा संशोधित) सरकार या अपनी पदीय हैसियत में कार्य करने वाले लोक अधिकारियों द्वारा या उनके द्वारा मुकदमेबाजी जैसे वर्गों के कुछ वादों/कार्यवाहियों में और कुटुम्ब से संबंधित मामलों के बारे में मुकदमेबाजी जैसे विवाह विषयक अनुतोष, संरक्षकता और अभिरक्षा, भरण-पोषण दत्तक ग्रहण, उत्तराधिकार आदि जैसे वादों/कार्यवाहियों में समझौता कराने में प्रयास करने और पक्षकारों की सहायता करने का न्यायालय पर कर्तव्य अधिरोपित करने का विशेष उपबंध अंतर्विष्ट है। ऐसे ही उपबंध हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 23 की उपधारा (2) और (3) में हैं। ये उपबंध नई विधायी नीति दर्शित करते हैं और ये इंगित करते हैं कि न्यायिक कर्तव्य को शास्त्रीय दृष्टि-कोण से अर्थात् न्यायाधीशों से उन समस्याओं में, जिनका वह न्यायनिर्णयन करते हैं, मामलों का उचित रूप से और पक्षपात बिना विनिश्चय करने में समर्थ बनाने के लिए कोई भागीदारी या हित न रखने की अपेक्षा है, कुछ सीमा तक विचलन किया गया है। उपरोक्त उपबंधों में सुलह के लिए अधिकथित प्रक्रिया द्वारा न्यायालयों पर उनके समक्ष विचारण के लिए लगाए गए विनिर्दिष्ट प्रवर्गों के मामलों में उचित प्रक्रम पर सक्रिया रुचि रखने का कर्तव्य अधिरोपित किया गया है जिसमें ऐसे कदम उठा कर जो मामले की प्रकृति और परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए न्यायपूर्ण और प्रज्ञापूर्ण हों, पक्षकारों के बीच सुलह हो सके। ये विभिन्न उपबंध न्यायालय की सहायता से पक्षकारों के बीच विवाद के सौहार्द्रपूर्ण निपटारे की और विवाद का शीघ्रता क आधार पर न्यायपूर्ण, उचित और स्थायी निपटारा सुनिश्चित करने के उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए अधिनियमित किए गए हैं। ये उपबंध परिहार्य मुकदमेबाजी को समाप्त करने और मुकदमेबाजी को कम करके, जो अन्यथा एक लम्बा मामला बन जाती, न्यायालयों का भार कम करने के लिए भी परिकल्पित हैं।

उपरोक्त नई विधायी नीति के प्रकाश में और पुराने मामलों के लंबन की दृष्टि से तथा यह सुनिश्चित करने के लिए मुकदमेबाजी विवाद के सौहार्द्रपूर्ण निपटारे के रूप में समाप्त हो जाए, सुलह न्यायालयों को ऐसे प्रवर्गों के मामले सौंपे गए हैं जिनमें समझौते की युक्तियुक्त संभावना है, जिससे वे पक्षकारों की सुलह करने में सहायता कर सकें चाहे मामले आरंभिक प्रक्रम पर हों, या सुनवाई के लिए परिपक्व हों या निष्पादन के प्रक्रम पर हों।

मामलों की पहचान और सुलह न्यायालयों को अंतरण

निम्नलिखित मामले ऐसे मामलों के रूप में वर्गीकृत किए गए हैं जिनमें सुलह प्रक्रिया अपनाई जानी है :—

(क) निर्धन व्यक्तियों के रूप में वाद लाने के लिए आवेदन,

(ख) अंतरिम अनुतोष पाने के लिए आवेदन,

(ग) निष्पादन आवेदन,

(घ) सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22क के नियम 1 के उपनियम (2) में यथा परिभाषित कुटुंब संबंधी मामलों के बारे में वाद/कार्यवाहियां,

(ङ) दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 और 127 के अधीन याचिकाएं,

(च) विभाजन संबंधी वाद,

(छ) हिमाचल प्रदेश नगर किराया नियंत्रण अधिनियम के अधीन मामले,

(ज) अग्रक्रयाधिकार वाद,

(झ) लिखतों पर धन संबंधी वाद,

(ञ) लेखा देने के लिए वाद,

(ट) मोटरयान अधिनियम की धारा 110क के अधीन आवेदन,

(ठ) वाद या कार्यवाही जिसमें सरकार या अपनी पदीय हैसियत में कार्य करने वाला लोक अधिकारी एक पक्षकार है,

(ड) व्यतिक्रम के लिए खारिज किए गए वाद के पुन: स्थापन क लिए आवेदन,

(ढ) एक पक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए आवेदन,

(ण) उपशमन को अपास्त करने और/या विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने में बिलंब को माफ करने के लिए आवेदन,

(त) सीमा संबंधी विवाद से उत्पन्न सभी वाद/मामले जिनके अंतर्गत अधिक्रमण भी हैं,

(थ) सुखाचार के अधिकारों के आधार पर सभी वाद,

(द) शमनीय प्रकृति के दांडिक मामले,

(ध) संपत्ति अंतरण अधिनियम द्वारा शासित नगर संपत्ति के कब्जे के लिए वाद,

(न) संविदाओं के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद ।

सुलह के लिए रखे गए सभी मामले/सुलह विचारण के लिए सुलह न्यायालय को सौंपे जाते हैं जो इस प्रकार सौंपे गए कार्य के संबंध में सप्ताह भर या सप्ताह में विनिर्दिष्ट संख्या में दिनों में कार्यवाही करता है और उन दिनों में कोई अन्य कार्य, सिवाय उन मामलों के जिनमें भागत: सुनवाई हुई थी और उन मामलों के जो ज्येष्ठ उप न्यायाधीश-सह-मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा अन्य रूप से विचारणीय है, नहीं करता है ।

जहां सुलह न्यायालय इसमें इसे पूर्व प्रवर्गों के अधीन आने वाले कुछ मामलों के संस्थित किए जाने के प्रयोजन के लिए आरंभिक अधिकारिता वाला मुख्य न्यायालय भी है वहां ऐसा न्यायालय ऐसे मामलों को किसी अन्य उप न्यायाधीश-सह-न्यायिक मजिस्ट्रेट को सौंपने के पूर्व विचारणपूर्व सुलह कार्यवाहियां आरंभ करता है ।

ऐसे मामलों को पहचानने और सुलह न्यायालय को अंतरित करने की दृष्टि से अधीनस्थ न्यायाधीशों को, यथास्थिति, जिला और सेशन न्यायाधीश या अपर जिला और सेशन न्यायाधीश द्वारा मार्गदर्शन दिया जाता है। प्रत्येक अधीनस्थ न्यायाधीश अपने न्यायालय में लंबित मामलों की फाइलों की परीक्षा करता है और सुलह न्यायालय को निर्देशित करने योग्य मामले की पहचान करता है तथा ऐसे प्रवर्गों के सबसे पुराने मामलों की प्रथमत: छांट करता है । इन निदेशों के प्रयोजन के लिए सबसे पुराने मामलों की परिभाषा "वे मामले जो समय को ध्यान में रखते हुए सब से पहले संस्थित किए गए हैं और कालानुक्रम से रखे गए हैं" के रूप में की गई है। ऐसे मामलों में से प्रत्येक मामले की ज्येष्ठ न्यायिक अधिकारी अर्थात् जिला या अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के साथ चर्चा करने की अपेक्षा है और यदि दोनों अधिकारियों का प्रथम दृष्ट्या समाधान हो जाता है कि सुलह के लिए प्रयत्न फलोत्पादक साबित होगा तो ऐसे मामले जिला और सेशन न्यायाधीश के समक्ष सुलह न्यायालय को अंतरण के लिए रखे जाते हैं ।

अंतरण के प्रक्रम पर जिला और सैशन न्यायाधीश यथा संभव, पक्षकारों के परामर्श से परामर्श कर सकेगा और सुनिश्चित कर सकेगा कि क्या नियत तारीख को सुलह न्यायालय के समक्ष पक्षकारों को उपस्थित रहने की अपेक्षा करने वाली सूचना का जारी करना सुलह की प्रक्रिया को त्वरित करेगा और उचित परिणामिक कार्रवाई कर सकेगा ।

जिला और सैशन न्यायाधीश/अपर जिला और सैशन न्यायाधीश विनिर्दिष्ट प्रवर्गों के मामलों की बाबत सुलह न्यायालयों के रूप में कार्य करते हैं जिनके लिए ऐसे मामलों के विचारण या उनसे उद्भूत अपीलों में उनकी आरंभिक अधिकारिता होती है। सुलह न्यायालयों को लागू सभी निदेश जहां तक हो सके उनको लागू होते हैं। जिला और सैशन न्यायाधीश/अपर जिला और सैशन न्यायाधीश मामूली तौर पर सप्ताह में एक बार सुलह न्यायालय के रूप में कार्य करते हैं।

सुलह न्यायालय के समक्ष प्रक्रिया

सुलह न्यायालय, सौहार्दपूर्ण समझौते के लिए वैकल्पिक सूत्रों की बाबत राय बनाने के लिए मामलों के कागजपत्रों का अध्ययन करता है और तथ्यों का परामर्शी तथा पक्षकारों से आवश्यक सीमा तक सत्यापन करता है और मामले में विवादकों के सौहार्दपूर्ण निपटारे के लिए दोनों पक्षकारों को स्वीकार्य उचित और न्यायपूर्ण सूत्र बनाने का प्रयास करता है। सुलह न्यायालय को यह बात ध्यान में रखने की सलाह दी जाती है कि उसे एक सराहनीय उद्देश्य को प्रभावी करने और न्याय की प्रतीक्षा में वादियों की सहायता करने के लिए परिकल्पित एक विशेष परियोजना को निष्पादित करने का विशेष उत्तरदायित्व सौंपा गया है और उससे अपने संकेंद्रित प्रयास द्वारा अपने कृत्यों और कर्तव्यों का अपनी सर्वोत्तम योग्यता के अनुसार निर्वहन करने की आशा की जाती है । प्रायोगिक प्रक्रमों में, सुलह न्यायालय का मार्ग दर्शन वरिष्ठ न्यायिक अधिकारियों द्वारा किया जाता है क्योंकि परियोजना की सफलता और उसके परिणामस्वरूप उसका चालू रहना आरंभिक सफलता पर आश्रित है जो सुलह न्यायालय अपने कार्य में सच्चे और निरंतर प्रयासों से प्राप्त करता है। साथ ही यह भी सलाह दी जाती है कि वादियों और वकीलों के मन पर यह प्रभाव न हो कि न्यायालय न्यायिक प्रक्रिया का उपयोग समझौते के लिए विवश करने के लिए करता है।

दूसरे व्यक्तियों के साथ-साथ बार के ज्येष्ठ सदस्यों को जिला न्यायाधीश, अपर जिला न्यायाधीश और सुलह न्यायालय द्वारा उन पर यह प्रभाव डालने के लिए कि परियोजना मामलों के निपटारे में लोक-प्रसिद्ध विलंब को कम करने के लिए उनके सहयोग की विधिसम्मत प्रत्याशा से प्रायोगिक आधार पर आरंभ की गई है, व्यक्तिगत चर्चा के लिए आमंत्रित किए जाते हैं। उनकी उक्त सहभागिता से कई मामलों में समझौता हो सकेगा जिससे उनके समय की बचत होगी, वे साक्षियों को बुलाने और उनकी लंबी परीक्षा प्रतिपरीक्षा और तर्क सुनने के कष्ट से बच जाएंगे। उनको यह बताया जाता है कि परियोजना की सफलता उस सहयोग पर आश्रित है जो वे दें और यह प्रयोग वादियों और संपूर्ण समाज के सर्वोत्तम हित में किया जा रहा है।

सुलह न्यायालय उसको निर्देशित मामलों में स्वयं विवादकों की विरचना कर सकेगा और ऐसे मामलों का गुणागुण के आधार पर विचारण भी कर सकेगा या उचित मामलों में व्यतिक्रम के लिए खारिज कर सकेगा या एक पक्षीय रूप से कार्यवाही कर सकेगा किंतु इस सावधानी के साथ कि व्यतिक्रम के लिए खारिजी या एक पक्षीय रूप में कार्यवाही या उपयोग सुलह कार्य को सुनकर बनाने के लिए पक्षकारों और उनके परामर्शी की उपस्थिति सुनिश्चित करने के सीमित उद्देश्य से बहुत कम किया जाता है । उन्हें यह सलाह दी जाती है कि यह प्रभाव पैदा नहीं होना चाहिए कि शक्तियों का उपयोग सुलह के लिए विवश करने के लिए किया जाता है और कि इस निमित्त अधिक सावधानी बरतनी चाहिए और ऐसे आदेश नियम के रूप में उदारता से विखंडित किए जाएं जिससे तात्विक न्याय के उद्देश्य विफल न हों।

सुलह न्यायालयों को सलाह दी जाती है कि वादों/कार्यवाहियों के वापस लेने या समझौता अभिलिखित करने और/या अंतिम आदेश/डिक्रियां पारित करने के समय सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 23 और आदेश 32 के सुसंगत उपबन्धों को ध्यान में रखा जाए। इसके अतिरिक्त उनका

बड़ाई से पालन सुनिश्चित करना चाहिए जिससे पक्षकारों के बीच भावी मुकदमेबाजी के लिए कोई अवसर न आए। यदि आवश्यक हो तो समझौता ऐसी रीति से अभिलिखित करना चाहिए कि सहमति के साथ सुलह न्यायालय को पक्षकारों द्वारा ऐसी सहमति के पालन का वचनबंध हो।

यदि कोई/वाद/अपील कार्यवाही जो सुलह के लिए ली जाने योग्य है किसी उच्चतर न्यायालय द्वारा रोक दी जाती है तो मामले को अपील प्रक्रम पर सुलह के लिए लेने के लिए आवश्यक कार्रवाई की जाती है, यदि अपील जिला न्यायालय में लंबित है, और यदि अपील या पुनरीक्षण उच्च न्यायालय में लंबित है तो उच्च न्यायालय को उचित आदेशों के लिए, जिनके अन्तर्गत रोकादेश को निष्प्रभावित करना भी है, निर्देश किया जाता है।

सुलह न्यायालय को अपनी मामला सूची इस रीति से व्यवस्थित करने के लिए निदेश दिया जाता है कि वह मामलों के शीघ्र और समाधानप्रद निपटारे के लिए सहायक हो। इससे विशेष प्रकार के कार्य प्रवर्गों के मामलों के लिए एक बैठक अलग से करने की अपेक्षा की जाती है यदि उससे प्रयोजन का बेहतर साधन होता है। इस दृष्टि से कि सुलह न्यायालय के न्यायिक समय का अपव्यय, किसी एक दिन में सुलह कार्य यथायोग्य/पर्याप्त न होने की दशा में, न हो, जो इसने इस कार्य के लिए अलग रखा है, मामला सूची में उस दिन के लिए कुछ मामले नियमित सुनवाई के लिए रखने के लिए, अर्थात् अभिवचन फाइल करने, विवाद्यकों के स्थिरीकरण आदि के लिए किंतु साक्ष्य अभिलिखित करने के लिए नहीं, निदेश दिए जाते हैं।

मोटर दुर्घटना दावा मामलों पर परियोजना का विस्तार

परियोजना का विस्तार मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण, मंडी के सिवाय राज्य में सभी मोटर दुर्घटना दावा अधिकरणों में बीमा कंपनियों के विरुद्ध लंबित मोटर दुर्घटनाओं के शिकार व्यक्तियों द्वारा प्रतिकर की वसूली के लिए मामलों तक भी किया गया है। आरंभ में यह शिमला और हमीरपुर सैशन खंडों में जुलाई 1986 में आरंभ की गई थी और अगस्त, 1986 में इसका विस्तार सोलन, ऊना और कांगड़ा सैशन खंडों पर किया गया। स्कीम के अधीन मोटर दुर्घटना दावा मामलों के सुलह द्वारा निपटारे के लिए निम्नलिखित प्रक्रिया अपनाई जाती है :—

क. मामलों को निम्नलिखित प्रवर्गों में छांटा जाता है :—

(क) मामले जो तर्क] की सुनवाई के लिए तैयार हैं,

(ख) मामले जिनमें सभी तात्विक साक्ष्य अभिलिखित कर लिया गया है,

(ग) मामले जिनमें साक्ष्य भागतः अभिलिखित किया गया है,

(घ) मामले जिनमें कोई साक्ष्य पेश नहीं किया गया है।

ख. (i) बीमा कंपनियों के विरुद्ध लंबित मामलों की पहचान की जाती है और बीमा कंपनी को एक सूची भेजी जाती है।

(ii) ऐसे मामलों की फाइलों का संबद्ध बीमा कंपनी के प्राधिकृत अधिकारी द्वारा पहिले सप्ताह में प्रत्येक मामले में अंतर्वलित विवाद का अनुमान लगाने के लिए निरीक्षण किया जाता है।

(iii) दूसरे सप्ताह में, कंपनी अपने परामर्शी की मार्फत अधिकरण को ऐसे मामलों को, जो सुलह के लिए चलाए जा सकते हैं तथा उस रकम की भी संसूचना देती है जिसकी वह प्रस्थापना करती है।

(iv) कंपनी से प्रस्थापना की प्राप्ति पर अधिकरण दावेदारों और उनके परामर्शी को सुलह के लिए सूचनाएं जारी करके ऐसे मामलों के लिए अगले सप्ताह में तारीखें निश्चित करता है। अधिकरण कंपनी की प्रस्थापना पर विचार करता है और पक्षकारों को सुनने के पश्चात्, अधिकरण भी, यदि उसका यह समाधान नहीं होता है कि कंपनी की प्रस्थापना न्याय सम्मत है तो प्रस्थापना की रकम में वृद्धि का सुझाव, यदि कोई हो, देता है।

(v) तत्पश्चात् ऐसे मामलों में अगले सप्ताह में ऐसे मामलों में जो सोहार्द्रपूर्ण समझौते द्वारा निपटारे के लिए तैयार है दावों के वास्तविक निपटारे के लिए रखे जाते हैं। एक कंपनी के विरुद्ध मामले एक दिन पर रखे जाते हैं ताकि कंपनी का प्राधिकृत अधिकारी दावों की अंतिम रूप से निपटाने के लिए और समझौते पर बीमा कंपनी की ओर से हस्ताक्षर करने के लिए अधिकरण के समक्ष उपस्थित रह सके। उसके पश्चात् अधिकरण समझौते/निपटारे के निबंधनों के अनुसार अधिनिर्णय देने को तुरंत कार्यवाही करता है और अपेक्षित न्यायालय फीस के साथ उस प्रयोजन के लिए आवेदन फाइल किए जाने पर उसी दिन, जिसको अधिनिर्णय सुनाया जाता है अधिनिर्णय की प्रमाणित प्रति कंपनी के प्रतिनिधि को उपलब्ध करा दी जाती है।

(vi) अधिनिर्णय की रकम अधिनिर्णय की तारीख से एक सप्ताह के भीतर कंपनी द्वारा जमा करा देनी अपेक्षित है।

(vii) उन मामलों में जिनमें साक्ष्य पेश नहीं किया गया है, पक्षकारों की सहमति से, ऐसे मामलों में दावेदारों को शपथपत्रों पर साक्ष्य पेश करने के लिए कहा जाता है और बीमा कंपनी, यदि उसका शपथपत्र के रूप में साक्ष्य द्वारा अभिलेख पर लाए गए साक्ष्य से समाधान नहीं होता है, प्रत्यर्थियों को प्रतिपरीक्षा के लिए समन करने के लिए अधिकरण को आवेदन करने के लिए स्वतंत्र है। ऐसे मामले अंतिम प्रक्रम पर लिए जाते हैं, और ऊपर इंगित रूप में कदम ऐसे मामलों की बाबत उन्हीं समय सीमाओं के भीतर क्रमानुसार लिए जाते हैं।

(viii) ऐसे मामलों में शपथ पत्र पर साक्ष्य के रूप में निम्नलिखित सामग्री अभिलेख पर लाई जाती है :—

(क) घातक दुर्घटना की दशा में :

(i) शव परीक्षा रिपोर्ट और/या मृतक की मृत्यु का कारण दर्शित करने वाला मृत्यु प्रमाणपत्र।

(ii) मृतक के नियोजक से वेतन/मजदूरी प्रमाणपत्र, स्वनियोजित व्यक्ति की दशा में आय-कर विवरणियां या आय के बारे में अन्य साक्ष्य :

(iii) मृतक का आयु प्रमाणपत्र।

(iv) आश्रितों/(विधिक वारिसों के नाम और उनकी आयु तथा आश्रित होने का सबूत और मृतक के साथ नातेदारी)।

(v) उपगत व्यय, यदि कोई हो, की विशिष्टियां और उनके समर्थन में दस्तावेजी साक्ष्य, यदि कोई हो।

(vi) कोई अन्य सामग्री जिसको अधिकरण अपेक्षा करे।

(ख) वैयक्तिक क्षति की दशा में :

(i) अस्पताल अभिलेख और/या उस अस्पताल/चिकित्सा व्यवसायियों के, जिन्होंने क्षत व्यक्ति का उपचार किया, हुई क्षति की प्रकृति और अस्पताल में भर्ती होने और वहां से छुट्टी होने की तारीख दर्शित करने वाला प्रमाणपत्र, ऐसे मामलों में जिनमें इनमें से कोई भी उपलब्ध नहीं हैं, ऊपर वर्णित विशिष्टियां देते हुए दावेदार का शपथपत्र,

(ii) स्थायी/आंशिक निःशक्तता प्रमाणपत्र, यदि कोई हो,

(iii) क्षत व्यक्ति के नियोजक से वेतन/मजदूरी प्रमाणपत्र, क्या नियोजन जारी रहा है और यदि ऐसा है, तो क्या उसी या समरूप पद पर और उन्हीं निबंधनों या शर्तों पर है।

(iv) प्रथम इत्तिला रिपोर्ट और पंचनामे की, यदि कोई हो, शुद्ध प्रति।

(v) उपगत व्यय की, यदि कोई हो, वाउचरों/कैश मैमो की प्रतियों सहित, विशिष्टियां।

उपाबंध 6

विभिन्न राज्यों में नगर सिविल न्यायालयों के बारे में विवरण

क्र० सं०	राज्य	धनीय अधिकारिता की सीमाएं	उच्च न्यायालय की अधिकारिता अपवर्जित	प्रारंभ की तारीख	आरंभिक संख्या	वर्तमान संख्या	आरंभिक मामले	वर्तमान बकाया मामले	टिप्पणी
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
1.	गुजरात	सीमा रहित	हां	1961	6	22 4,352 सिविल 15 दांडिक 4,367	26,626 सिविल 608 दांडिक 27,234	सिविल दांडिक	1-6-1988 को
2.	कलकत्ता	एक लाख	हां	1953	4	13 लागू नहीं	31,597 168 31,765	सिविल दांडिक	30-6-1988 को
3.	मद्रास	एक लाख	हां	1892	1	26 380	20,480		31-5-1988 को
4.	कर्नाटक	सीमा रहित	हां	1890	19	21 28,533 सिविल 94 दांडिक 28,627	46,083 सिविल 618 दांडिक 46,701	सिविल दांडिक	30-6-1988 को
5.	महाराष्ट्र	50,000	हां	1948	4	37 781 सिविल	53,266 4,944 58,210	सिविल दांडिक	30-4-1988 को
6.	आंध्र प्रदेश	सीमा रहित	हां	1958	10	56 लागू नहीं	33,848 12,996 46,844	सिविल दांडिक	1-1-1988 को

*टिप्पण : लागू नहीं से जानकारी उपलब्ध नहीं द्योतक है।

88-एम/जे(डी) 779 एम आफ एल जे एंड सी ए—400—18-5-91—जीआईपीएस

पी एल डी. 92. CXXIX (एच)
400—1989 (डी एस के. IV)

मूल्य : (देश में)—91 रु० 90 पै० ; (विदेश में)—3 पौंड 10 शिलिंग या 5 डॉलर 52 सैंट्स

1991
प्रबन्धक भारत सरकार मुद्रणालय शिमला द्वारा मुद्रित तथा
प्रकाशन नियन्त्रक सिविल लाईन्स दिल्ली द्वारा प्रकाशित